श्रीमदमृतचन्द्राचार्य-विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

(जिनप्रवचन रहस्य कोश)

व्याख्याकार

क्षुल्लक धर्मानन्द

प्रकाशक :

श्री सुरेश सी. जैन

(E.I.C. House),

B-1/30-A, हौज खास,

नई देहली-110016

प्रथमावृत्ति : अक्तूबर, १९८९
RELIGION, 1989

श्रीमदमृतचन्द्राचार्य-विरचित
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (जिनप्रवचन रहस्य कोश)

प्रेरणा : श्री माणिकचन्द्र जे० चवरे (कारंजा)
मुखपृष्ठ सज्जा :
सौ० संगीता एस० जैन
हौज खास, नई देहली-११००१६

मूल्य : स्वाध्याय, चिन्तन, मनन

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
श्री सुरेश सी० जैन
(E. I. C. House)
बी---1/30 A, हौज खास,
नई देहली-110016

मुद्रक : श्री मुरलीधर (PAMS Print)
9014, देशबन्धु गुप्ता रोड, पहाड़गंज,
नई देहली-110055

ॐ

अपनी बात

'संसारव्यसनाहृतिप्रचलिता नित्योदयप्रार्थिनः,
प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः शान्तैनसः प्राणिनः।
मोक्षस्यैव कृतं विशालमतुलं सोपानमुच्चैस्तराम्,
आरोहन्ति चरित्रमुत्तममिदं जैनेन्द्रमोजस्विनः॥'

—जो भव्य जीव संसार के दुःखों के धक्कों से भयभीत हो गये हैं, जो सदाकाल रहने वाली मोक्षलक्ष्मी के प्राप्त होने की प्रार्थना करते हैं, जो आसन्न-भव्य हैं, मोक्षलक्ष्मी जिनके समीप तक आ पहुँची है, जिनकी बुद्धि उत्तम है, जिनके पाप कर्मों का उदय शान्त हो गया है, जो बड़े तेजस्वी हैं—ऐसे जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा निरूपण किये हुए, जिसकी संसार में कोई उपमा नहीं, जो अत्यन्त विशाल है, अत्यन्त ऊँचा है—ऐसे मोक्ष के लिए बनाए हुए जीने के समान, उस उत्तम चारित्र को धारण करते हैं।

'अज्ञानाचारविध्वंसिन्! सज्ज्ञानाचारवर्द्धक!
गुरुवर्य! नमस्तुभ्यं शुद्धस्वरूपकारक!'

—हम अपने दीक्षा-गुरु परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज के चरण-कमलों में योगों को बुद्धिपूर्वक श्रद्धा-भक्ति से त्रिकाल त्रिवार नमोऽस्तु करते हुए उनका स्मरण करते हैं तथा उनके प्रति सविनय आभार प्रकट करते हैं। वे सदा हमारा मार्गदर्शन करें।

'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' चरणानुयोग का ग्रन्थ है। इसे 'जिनप्रवचन रहस्य कोश' भी कहते हैं। यह आत्मविद्या के मर्मज्ञ आचार्यश्री

अमृतचन्द्र की स्वतंत्र कृति है। इस ग्रन्थ में आध्यात्मिक दृष्टि की प्रधानता से पुरुषार्थसिद्धि—'पुरुष' (आत्मा) के 'अर्थ' (प्रयोजन) की सिद्धि अर्थात् निजशुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति अथवा सिद्धस्वरूप अपने आत्मस्वभाव की प्राप्ति के उपायों का वर्णन किया गया है। आचार्यश्री ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन प्राप्त करने का निर्देश दिया है। मुनिजनों और श्रावकों को प्रेरणा दी गई है कि वे अध्यात्मदृष्टि से आत्मकल्याण की भावना मात्र से अहिंसादि व्रत, समिति, गुप्ति इत्यादि तथा बाह्याभ्यन्तर वीतराग तप को धारण करें, वही सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र अधिकार में अहिंसा की विस्तारपूर्वक तथा निश्चय व्यवहार परक व्याख्या बहुत ही विशद, सूक्ष्म तथा महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा/हिंसा का तर्क और आगम-सम्मत—ऐसा तलस्पर्शी उपदेश अन्यत्र ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। अहिंसा को ही सर्वव्यापक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आचार्यश्री कहते हैं कि असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रह—ये चारों पाप हिंसा से ओतप्रोत होने के कारण हिंसा के ही प्रकारान्तर हैं। मूल में हिंसा ही अधर्म है और अहिंसा ही एकमात्र धर्म है। कषायभाव के कारण ही जीव हिंसक होता है और निष्कषायभाव से ही अहिंसक होता है। निश्चय से रागादि भावों का उत्पन्न न होना ही 'अहिंसा' है और रागादि भावों की उत्पत्ति ही 'हिंसा' है। हिंस्य, हिंसक, हिंसा तथा हिंसा का फल—इन चारों बातों को जाने बिना हिंसा का त्याग संभव नहीं।

आत्मा का शुद्धस्वरूप और उसके बंध में पड़ने का कारण भी दिया गया है जो कि अन्यत्र किसी श्रावकाचार में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार की तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की चर्चा भी अन्यत्र श्रावकाचारों में नहीं है। निश्चयनय और व्यवहारनय की मैत्रीपूर्ण संधि द्वारा ही पुरुषार्थ की सिद्धि संभव है। आचार्यश्री ने व्यवहाराभासियों और निश्चयाभासियों को उनकी अज्ञानता और एकान्ताग्रह के लिये कड़ी लताड़ पिलाई है।

इस ग्रन्थ के २२६ श्लोकों को हमने सात अधिकारों में बाँटा है—(१) उत्थानिका अधिकार, (२) श्रावकधर्म अधिकार, (३) सम्यग्ज्ञान अधिकार, (४) सम्यक्चारित्र अधिकार, (५) सल्लेखना अधिकार, (६) अतिचार अधिकार तथा (७) सकलचारित्र अधिकार।

पहले उत्थानिका अधिकार में उन्नीस श्लोक हैं। इनमें वक्ता-श्रोता का लक्षण, पुरुष का स्वरूप, उसकी अशुद्धता के कारण और पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है। दूसरे श्रावकधर्म अधिकार में ग्यारह श्लोक हैं, जिनमें सम्यक्त्व का लक्षण तथा उसके आठ अंगों का वर्णन है। तीसरे सम्यग्ज्ञान अधिकार में छह श्लोक हैं जिनमें सम्यग्ज्ञान का लक्षण तथा उसके आठ अंगों का वर्णन है। चौथे सम्यक्चारित्र अधिकार में एक सौ अड़तालीस श्लोक हैं जिनमें सम्यक्चारित्र का लक्षण इत्यादि, हिंसा/अहिंसा का स्वरूप, अष्टमूलगुण, सत्य/असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह का स्वरूप, रात्रि भोजन त्याग, सात शील-व्रत तथा नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान इत्यादि का वर्णन है। पाँचवें सल्लेखना अधिकार में छह श्लोक हैं जिनमें सल्लेखना ग्रहण करने का क्रम तथा विधि इत्यादि का वर्णन है। छठे अतिचार अधिकार में सोलह श्लोक हैं जिनमें चौदह व्रतों के अतिचार तथा अतिचार त्याग का फल है। सातवाँ सकलचारित्र अधिकार है। इसके तीस श्लोकों में तप और उसके भेद, मुनिव्रत धारण करने का उपदेश, छह आवश्यक, तीन गुप्ति, दसधर्म, बारह भावना, बाईस परीषह इत्यादि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त रत्नत्रय तथा राग का फल, निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप, परमात्मा का स्वरूप तथा जैननय की विवक्षा है।

इस बहुमूल्य और उपयोगी लघुग्रन्थ के कर्त्ता आचार्यश्री अमृतचन्द्र हैं। उनका जन्म कब और कहाँ हुआ—इसकी पर्याप्त जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। फिर भी विद्वानों ने उनको दसवीं शताब्दी के महान, विशुद्ध अध्यात्म-विचारक आचार्य के रूप में माना है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उन्हें 'कलिकाल गणधर' पद से विभूषित किया है। अध्यात्म साहित्य के महान् प्रणेता के रूप में उनका नाम बड़े गौरव से लिया जाता है। कहा जाता है कि यदि उन्होंने आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव के अध्यात्म ग्रन्थों का इतनी गहराई और सूक्ष्मता से

रहस्योद्घाटन न किया होता तो शायद हम अध्यात्म को समझने में सर्वथा असमर्थ रहते अथवा अर्थ का अनर्थ कर सकते थे। उनके लिखे हुए छह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध हैं—(१) समयसार की आत्मख्याति टीका तथा कलश, (२) प्रवचनसार की टीका, (३) पंचास्तिकाय संग्रह की टीका, (४) तत्त्वार्थसार, (५) लघुतत्त्व स्फोट, तथा (६) पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

अभी तक हम 'तत्त्वार्थसूत्र', 'विधि सामायिक की' तथा 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' स्वाध्याय प्रेमी मुमुक्षु जीवों को भेंट कर चुके हैं। हमें सन्तोष है कि वे काफी लोकप्रिय सिद्ध हुए। उनकी सफलता से प्रोत्साहित होकर तथा ध० श्री माणिकचन्द जयकुमार चवरे से प्रेरणा पाकर हमने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रन्थ का सरलीकरण करने का साहस किया है। हमने सदा यही प्रयास किया है कि आचार्यों के अभिप्राय को सामान्य बोल-चाल की भाषा में गृहस्थों के सामने प्रस्तुत करें, जिससे कि वे आसानी से विषय को समझ सकें। हमारी हिन्दी चलती हिन्दी है। विद्वानों के द्वारा बोली और लिखी जाने वाली हिन्दी नहीं है। हिन्दी 'प्राकृत' भाषा है। प्राकृत का अर्थ है प्रकृति अथवा स्वाभाविकता से युक्त —ऐसी स्वाभाविक भाषा जो साधारण जनता के द्वारा आसानी से समझी और बोली जा सके। आजकल पंडितों/विद्वानों में जो गूढ़ हिन्दी चल रही है, वह साधारण लोगों में किसी को समझ नहीं आती। दुर्भाग्य से आज धर्म ग्रन्थों के स्वाध्याय में लोगों की रुचि है ही नहीं। जो थोड़े भव्य जीवों को रुचि है, वे भाषा की गूढ़ता के कारण विषय को समझ नहीं पाते, इसलिए उन्हें भी रुचि नहीं रहती। इन सब बातों को ध्यान में रखकर तथा अपने अनुभव के आधार से हमने प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय अति सरल करने की पूरी कोशिश की है। इसमें मूल श्लोक, अन्वयार्थ, अर्थ तथा उसका विशेष स्पष्टीकरण विशेषार्थ के रूप में किया है। स्व० पंडितप्रवर टोडरमल जी ने इस ग्रन्थ का ढुंढारी भाषा में खण्डान्वय रूप अनुवाद किया है। हमने उसी का अनुसरण करने का पूरा प्रयास किया है।

यह तीन लोक जीवों से ठसाठस भरा हुआ है, सर्वत्र जीव ही जीव हैं। वे सभी सुख चाहते हैं और दुःखों से भयभीत हैं, परन्तु सुख की

प्राप्ति तो दुर्लभ है। बाह्य पदार्थों में और इन्द्रियों के विषयों में सुख कहाँ से मिले। निराकुल और अविनाशी सुख तो मोक्ष में ही प्राप्त हो सकता है। मनुष्य को परमात्मरूप हुए बिना सुख-चैन नहीं मिल सकता। परमात्मरूप होने के प्रयत्न का सच्चा नाम एकमात्र 'पुरुषार्थ' है, यही आत्मा की सिद्धि और दर्शन है। केवल वाचनमात्र ही पर्याप्त नहीं, हमें सत्य क्रिया भी करनी होगी। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का सार है। हमें पूर्ण आशा है तथा हम शुभ कामना करते हैं कि आत्मकल्याण के इच्छुक जीव इस छोटे से ग्रन्थ के स्वाध्याय, चिन्तन-मनन से अपने 'पुरुषार्थ' को समीचीन दिशा देकर रत्नत्रय की ओर बढ़ेंगे।

धर्मानुरागी श्री माणिकचन्द्र जे० चवरे (श्री महावीर ब्रह्मचर्या-श्रम, कारंजा) ने अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ का मार्मिक 'पुरोवाक्' लिखा है। वे एक बहुत अच्छे विद्वान् हैं। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द देव तथा आचार्यश्री अमृतचन्द्र के अध्यात्मिक साहित्य का बहुत ही गूढ़ अध्ययन किया है और उनके अभिप्राय को अच्छी तरह समझा है। इसके अलावा अन्य ग्रन्थों का भी गहन अध्ययन किया है। कुम्भोज बाहुबली में पहली बार उनसे संपर्क हुआ था। उनके सान्निध्य में ई० १९८३ में तथा पुनः १९८४ में स्वाध्याय करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। हमने बहुत कुछ सीखा तथा समीचीन दृष्टि पाई।

धर्मानुरागी डा० दामोदर शास्त्री (ला० बा० संस्कृत विद्यापीठ, नई देहली) भी एक बहुत ही अनुभवी और सिद्धहस्त विद्वान् हैं। उनका जीवन बहुत व्यस्त है। उन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण प्रूफरीडिंग में पूर्ण सहयोग दिया।

चारों प्रकार के दान में ज्ञान अर्थात् शास्त्रदान/विद्यादान का अपना ही विशेष महत्त्व है। शास्त्रों में कहा है कि ज्ञानदान देने से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तथा श्रुतकेवली/केवली पद की प्राप्ति होती है। धर्मानुरागी श्री सुरेश सी० जैन (E. I. C. House, Hauzkhas, New Delhi) एक भद्रपरिणामी, सरल स्वभावी तथा धर्मपरायण जीव हैं। चारों प्रकार के दान में सदा तत्पर रहते हैं। इस

ग्रन्थ के छपवाने में उन्होंने बहुभाग योगदान देकर अपने धन का सदुपयोग किया है। इससे पहले भी वे तत्त्वार्थसूत्र के प्रकाशन में भारी योगदान दे चुके हैं।

धर्मानुरागी श्री ओमप्रकाश जैन (मे० ओमप्रकाश जितेन्द्र कुमार एण्ड कम्पनी) एक बहुत ही सज्जन पुरुष हैं। समाज-सेवा तथा धर्म के प्रचार-प्रसार में सदैव आगे रहते हैं। उन्होंने भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना योगदान दिया है। श्री मुरलीधर (PAMS Print) ने इस ग्रन्थ की छपाई में पूर्ण सहयोग दिया है। हम उनकी शराफत के कायल हैं।

हम उपर्युक्त सभी महानुभावों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं तथा अनेक मंगलमयी शुभकामनाएं व्यक्त करते हैं। उनकी बुद्धि धर्म में बनी रहे, वे सदा ही धर्म कार्यों में योगदान देते रहें, यही हमारा सबको शुभाशीर्वाद है।

नई देहली
अक्तूबर २९, १९८९
दीपावली। — क्षुल्लक धर्मानन्द

पुरोवाक्

आचार्यश्री अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

स्वनामधन्य आचार्यप्रवर श्रीमत् श्री अमृतचन्द्र का यह "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" अपरनाम "जिनप्रवचन रहस्यकोश" चरणानुयोग का सर्वाङ्गपरिपूर्ण अद्भुत ग्रन्थरत्न है। आचार्यश्री का आचार्य-परंपरा में अपनी प्रतिभासम्पन्न समीचीन भावगर्भा संस्कृत गद्य-पद्य रचना के कारण सव्यसाची अधिकारसम्पन्न भाषाप्रभु रूप में अपना वैशिष्ट्य-पूर्ण स्थान है। आपकी उपलब्ध ग्रन्थसम्पत्ति अर्थगरिमा से अपनी विशेषता को लिए हुए निम्न रूप में हैं—

आचार्यप्रवर भगवान् कुन्दकुन्ददेव के (१) समयप्राभृत पर 'आत्म-ख्याति', (२) प्रवचनसार के ऊपर 'तत्त्वदीपिका' तथा (३) पंचास्ति-काय की 'समयव्याख्या'—ये प्राभृतत्रयी के तीनों भाष्य समस्त संस्कृत साहित्य के गद्य ग्रन्थों में सारगर्भित सरस अद्वितीय भाष्य हैं। साथ ही साथ 'आत्मख्याति' भाष्य के सारस्वरूप २७८ कलशों की रचना भी है, जो गागर में सागर की कहावत को सिद्ध करती है।

(१) 'समयप्राभृत' के भाष्य में पद्य तो काव्यमय हैं ही, परन्तु संपूर्ण गद्य भी काव्यगुण-गरिमा से महाकाव्य हो गया है। 'आत्म-ख्याति' में आचार्यश्री का भाष्य प्रौढ़ स्वरूपसुन्दर मनोहर शब्दब्रह्म का रूप धारण करता है तथा साक्षात् परब्रह्म के साथ प्रत्यक्ष वार्तालाप करता हुआ और गाढ़ आलिंगन देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। ऐसा सहजभाव होता है कि यहाँ शब्दब्रह्म निर्विकल्प सजीव हो गया है और परब्रह्म साक्षात् साकार हो गया है। एक ज्ञायकभाव रूप परमात्म-तत्त्व की गुणगौरव-गाथा गाती हुई आचार्यश्री की प्रतिभा को कहीं

थकान नहीं. रसहानि नहीं, प्रत्युत वर्धमान रसोत्कर्ष ही है। सहस्त्रावधि नित्य तालबद्ध नृत्य करते हुए नये अर्थगर्भ शब्दों की और लालित्यपूर्ण पदों की सृष्टि संस्कृत साहित्य का मनोहरी नंदनवन बनी है। स्वात्मविहारी आचार्यश्री की आत्मा तो स्वयं संसार के रागरंगों से अत्यन्त अलिप्त विदेही ही थी। परन्तु पाठकों को साथ लेकर उन्हें भी संसारभावों से दूर उन्मुक्त मनसा मोक्ष मार्ग में विहार कराती हुई नजर आती है।

(२) 'प्रवचनसार' में वही प्रतिभा सूक्ष्म ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्वों का यथावत् परिचय कराती है। अमूर्त तथा मूर्त वस्तु की अनेकान्तात्मकता और पृथगात्मता का साक्षात्कार कराती है। मोक्षमार्ग में वह ज्ञायक आत्मा किस प्रकार अग्रसर होता है—यह चारित्रचूलिका में दृष्टिगोचर होता है। सारा वर्णन हृदयग्राही हुआ है।

(३) 'पंचास्तिकाय' की समयव्याख्या में भी पंचास्तिकायों के स्वरूप निर्णय के साथ ही साथ कालद्रव्य का वर्णन भी सातिशय स्वरूप हुआ है।

(४) 'तत्त्वार्थसार'—यह आचार्यश्री का पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें तत्त्वार्थसूत्रांतर्गत विषयों का विशदरूप से वर्णन आया है। यथास्थान प्रस्तुत विषय के साथ सम्बन्ध रखने वाले अवातर विषय भी आए हैं। संपूर्ण रचना प्रसादगुण विशिष्ट है। सरल है। सात तत्त्वों का भूतार्थनय से किस प्रकार ज्ञान होता है, इसका भी निरूपण आया है।

(५) 'लघुतत्त्वस्फोट'—यह आचार्यश्री की नई उपलब्धि है। यह इस शताब्दि का अलभ्यलाभ है। इसमें भिन्न विभिन्न छंदों में अत्यन्त प्रौढ़ संस्कृत में पच्चीस-पच्चीस पद्यों में एक-एक भगवान् का—इस प्रकार चौबीसों भगवानों का स्तवन है। स्तुति के माध्यम से अनेकान्त, अहिंसा, आचार, अध्यात्म, व्यवहार-निश्चय की संधि, उपादान-निमित्त सम्बन्ध आदि महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म विषयों का सुन्दरतम बिन्यास आचार्यश्री समन्तभद्र के स्वयंभूस्तोत्र की तरह तत्त्वगर्भ चमत्कारपूर्ण और सागर की तरह गहन—गंभीर है।

(६) 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' – यह आचार्यश्री का सर्वतंत्रस्वतंत्र ग्रन्थ संस्कृत भाषा की २२६ कारिकाओं में निबद्ध है। आचार विषयक मूलगुण तथा अणुव्रतादि के वर्णन करने के पूर्व में ही १६ कारिकाओं में मंगलाचरण पूर्वक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टिदान किया है। ये कारिकाएँ सम्पूर्ण ग्रंथ में वर्णित आचार के अंतस्तत्त्व को पूर्णरूप से प्रकाशित करने के लिए आदि-दीपक की तरह अतीव उपयोगी हैं। प्रायः जनसामान्य की जीवनी उपचारों से अभिभूत और पर्यायाश्रित विचारों से प्रभावित होती है। विचारों में और आचार में व्यवहार दृष्टि का अत्यधिक प्रभुत्व होता है। अज्ञानी जीवों के लिए वह उपचार या व्यवहार ही धर्मसर्वस्व या सब कुछ होता है। इसीलिए आचार्यश्री का सुस्पष्ट संकेत है कि—

"उपचारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति"

—अर्थात् जो केवल उपचारों को सर्वस्व रूप में स्वीकार करते हैं ऐसे अज्ञानी उपदेश के पात्र नहीं हैं। उपचार कथन को आचार्यश्री ने अभूतार्थ, असत्यार्थ, मिथ्या एवं संसार दुःखों का कारण होने से हेय कहा है; और वस्तु तत्त्व को यथार्थ रूप में व्यक्त करने वाले निश्चय को भूतार्थ, सत्यार्थ, यथार्थ, सत्य, तीर्थ प्रवर्तक होने के कल्याणकारी, अनुसरण करने योग्य एवं उपादेय कहा है।

जीवद्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है तथा अपने गुणपर्यायों से समन्वित और पुद्गल के स्पर्शादि गुणों से सर्वथा रहित, सचेतन 'पुरुष' है। वह अपने ही परिणामों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। स्वाधीन सुख या हित ही पुरुष का प्रयोजन अर्थात् पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की सिद्धि रत्नत्रय द्वारा ही संभव है। यही आचार्यश्री की दृष्टि का केन्द्र बिन्दु रहा है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इस रत्नत्रयी में ज्ञान और चारित्र की समीचीनता के लिए सम्यग्दर्शन की हर तरह से निरतिचार उपासना की प्रेरणा की गई है। अष्टांगों का निरूपण (कारिका २० से ३० तक) है। अज्ञानी इस दृष्टि के अभाव में किस

प्रकार की गलतियाँ करता है, इसका अनुभवों के आधार पर अन्वेषण करके सुधार के लिए शुभ संकेत किये हैं।

सम्यग्ज्ञान अधिकार में ६ कारिकाओं द्वारा अनेकान्तात्मक तत्त्व निर्णय के लिए ज्ञानाराधना की प्रेरणा है, जोकि मध्यदीपक की तरह दोनों—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की यथार्थता का प्रकाशक और परिचायक है।

चारित्राधिकार (कारिका ३७ से ११६) में अष्टमूल गुणों के तथा बारह उत्तरगुणों के एकदेश और मुनियों के सर्वदेश आचार का वर्णन आया है। आत्मविशुद्धि जीवित रहे, आचारों में औपचारिकता का प्रवेश न हो इसलिए जगह-जगह उपासक और साधक को सचेत किया है। चारित्र का मूलाधार सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मविशुद्धि होता है। यह विशुद्धि आत्मा के शुद्ध स्वरूप के साक्षी से ही संभव है, इसीलिए चारित्र को स्पष्ट रूप से 'आत्मरूप', 'निवृत्तिरूप' तथा 'उदासीन' आदि अर्थवाही समर्थक शब्दों द्वारा कहा है। तात्पर्य यह है कि साधक का निरतिचाररत्नत्रय ही 'पुरुषार्थ' है, पुरुषार्थ की सिद्धि है और पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय भी है। देह में मेरुदण्ड की तरह साधक की साधना में रत्नत्रय ही सब कुछ है।

अणुव्रतों के वर्णन में अहिंसा का वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विस्तार-पूर्वक (कारिका ४२ से ९०) आया है जो विशेष अध्ययन की और मनन की वस्तु है। अन्यत्र ऐसा अजोड़ स्वरूप वर्णन कहीं देखने को नहीं मिलता। शेष व्रत और सल्लेखना अभेदनय से अहिंसा ही हैं—इसे व्रतों के वर्णन में तार्किक पद्धति से स्पष्ट किया गया है। स्वरूप में असावधानी और पाँचों पाप आत्मा के विशुद्ध परिणामों के घातक होने से बंध के कारण एवं हेय हैं। प्रत्युत ज्ञानी के ही व्रतादि विशुद्ध परिणामों के लिए साधक स्वरूप होने से व्रतों की जो उपादेयता कही है वह व्यवहार कथन है। वास्तव में जितने अंशों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है, उतने ही अंशों में बंध का अभाव होता है। अतः वे ही मुक्ति के परमार्थतः कारण हैं—यह स्पष्ट निर्देश है।

पाँचों अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के वर्णन की समाप्ति १७५ वीं कारिका में तथा सल्लेखना के वर्णन पूर्वक सम्यग्-दर्शन तथा १२ व्रतों और सल्लेखना के पांच-पांच अतिचारों के वर्णन की समाप्ति १९६ वीं कारिका में होती है। इन अतिचारों के परित्याग पूर्वक परिपालन से ही जीवात्मा भी पुरुषार्थसिद्धि को शीघ्रता से प्राप्त होता है।

अनंतर सकल चारित्र के वर्णन में छह बाह्य तप, छह अंतरंग तप, षडावश्यक, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशधर्म, बारह भावनाएँ और बाईस परीषहजय के संक्षिप्त वर्णनपूर्वक पुनः कारिका २०९ से अन्त तक रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है, वह बंध का कारण नहीं तथा योग और कषाय—ये बंध के ही कारण हैं, वे मुक्ति के कारण नहीं—इसका ऊहापोहपूर्वक जो वर्णन आया है वह अन्त्यदीपक की तरह (कारिका २०९ से २२५) अत्यन्त महत्त्व की दृष्टि दान करता है। उसके अभाव में साधक मुनि हो चाहे गृहस्थ हो, सारा क्रिया काण्ड तुषखण्डन तुल्य होता है। आचार्य श्री का इस प्रकार निस्संदिग्ध निर्णय स्पष्ट है।

ऐसे पारगामी अंतर्मुख दृष्टि प्राप्त और अधिकार-संपन्न आचार्य प्रवर का लौकिक परिचय स्वयं ने किसी भी ग्रन्थ में प्रशस्ति द्वारा या किसी भी रूप में नहीं दिया। आचार्यश्री द्वारा केवल अलौकिक, लोकोत्तर-लोकोत्तम ग्रन्थ रचना द्वारा जिनवाणी के प्राणस्वरूप अंत-स्तत्त्व का यत्र-तत्र-सर्वत्र रसपूर्ण जो आविष्कार हुआ है, वह निस्संशय ही शब्दशक्ति का एक तरह से विश्वव्यापी विषयपूरक प्रशस्त समुद्-घात ही हुआ है जो अमूर्त विषय का साक्षात्कार कराने में पूर्णतया समर्थ हुआ है। इतना सब होते हुए भी अपनी शुद्ध परमासाधारण, निर्मम, निरहंकार उत्तुंग अंतरंग आत्म प्रवृत्ति का परिचय इसी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के अंत में संक्षेपतः जो प्रस्तुत है, वह इस प्रकार है—

'वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥ (२२६)

आशय यह है कि नाना वर्णों ने शब्द किये। शब्दों ने पदों की रचना की। पदों ने वाक्य बनाये और वाक्यों ने यह परमपावन शास्त्र निर्माण किया। इसमें हमारा कर्त्तृत्व कुछ भी नहीं है। यह है आचार्य-श्री की लोक-विलक्षण दृष्टि-प्राप्त जागृत उत्कृष्ट अंतरात्मा का सच्चा परिचय। इतिहास वेत्ताओं ने आचार्यश्री का काल साधारण तौर से ईसा की दसवीं शताब्दी निर्णीत किया है, और पंडितप्रवर आशाधर जी के 'एतच्च विस्तरेण ठक्करामृतचन्द्रसूरिविरचित-समयसार-टीकायां द्रष्टव्यम्'—एतावन्मात्र उल्लेख से क्षत्रिय राजघराने से आचार्यश्री का सम्बन्ध अनुमानित किया है। जो भी हो ज्ञायक स्वरूप आत्मा की परमात्मता का यथार्थ दर्शन कराने वाले आचार्यश्री के प्रौढ़, विचक्षण, उत्कृष्ट अन्तरात्मा के चरणों में मस्तक नतमस्तक होता हुआ हृदय यही कहता है जो हजार वर्ष पूर्व आचार्यश्री अमित-गति ने परमात्म-स्मरण करते समय कहा—

'पादौ त्वदीयौ मम निष्ठतां सदा तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव।'

हे मुनीश ! हे स्वामिन् ! अज्ञान तमस को दूर भगाने में समर्थ प्रकाशपुंज दीपकों के समान आपके दो पाद (निश्चय और व्यवहार— ये दोनों प्रकाश किरणें) मेरे हृदय में सदा ही आसीन रहो।

इस ग्रन्थ के अनुवाद पूर्व में हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी में अनेक हुए हैं। आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमल जी का अनुवाद यद्यपि खण्डान्वय रूप है. फिर भी आचार्यश्री का हार्द उसमें पूर्ण रूप से आया है।

प्रस्तुत सफल अनुवाद के अनुवादक पू० क्षुल्लक श्री धर्मानन्द जी महाराज प्रामाणिक विचारों के स्वामी अध्ययनशील अभीक्ष्ण ज्ञानो-पयोगी त्यागी हैं। धारावाही हिन्दी और इंग्लिश भाषा के धनी हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का आपके द्वारा जो अनुवाद हुआ है, वह अपनी विशेषता रखता है। दोनों अनुवादों में कलम की कुशलता दृग्गोचर होती है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय का यह अनुवाद भी अत्यन्त उपयोगी वस्तु बन गई है। यह समाज के ऊपर आपका महान् उपकार

है। समुचित सुन्दर सत्श्रुत के इस नये अवतार का समादरपूर्वक स्वागत करते हुए आज प्रसन्नता का ही अनुभव हो रहा है। समाज में भी इसका स्वागत ही होगा।

मेरा अहोभाग्य रहा है कि पू० क्षुल्लक जी के निश्छल पवित्र जीवनी को और धर्मप्रवण प्रवृत्तियों को निकट से बाहुबली (कुम्भोज) में देखने को मिला। आपके निरपेक्ष वात्सल्य भावों की अविरत वर्षा होती रही जिसके लिए आपका कृतज्ञ हूँ। आपका आदेश तो इस ग्रन्थ की प्रस्तावना का था, परन्तु महाव्रत सदृश आदेश की पालना शक्ति और बुद्धि से परे थी, इसलिए यह संक्षिप्त 'पुरोवाक्' लिख दिया है।

महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, माणिकचन्द्र जयकुमार चवरे
कारंजा-४४४१०५
१८ अक्तूबर १९८९
(कार्तिक बदी ४, वीर संवत् २५१५)

विषय-सूची

विषय	श्लोक सं०	पृष्ठ सं०
(१) उत्थानिका		
मंगलाचरण	१-१—१२	१—५
ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा	१-३-३	६
वक्ता तथा श्रोता का लक्षण	१-४-४—८	६—१५
पुरुष का स्वरूप	१-६-६	१५—१८
पुरुष के अशुद्धता किस तरह हुई	१-१०-१०	१८—२०
अशुद्धात्मा की सिद्धि कब होती है तथा सिद्धि किसे कहते हैं	१-११-११	२०—२१
आत्मा और परद्रव्य (कर्म) के संबंध का कारण	१-१२-१२	२२—२३
जीव में विभाव भाव उत्पत्ति का निमित्त	१-१३-१३	२३—२४
संसार का मूल कारण	१-१४-१४	२४—२६
पुरुषार्थसिद्धि का उपाय	१-१५-१५—१६	२६—२८
उपदेश देने का क्रम इत्यादि	१-१७-१७—१६	२८—३०
(२) श्रावकधर्म अधिकार		
श्रावक को धर्म साधन में क्या करना चाहिए	२-१-२०—२१	३१—३३
सम्यक्त्व का लक्षण	२-३-२२	३३—३७
सम्यक्त्व के आठ (निःशंकितादि) अंगों का वर्णन	२-४-२३—३०	३७—४५

विषय	श्लोक सं०	पृष्ठ सं०
(३) सम्यग्ज्ञान अधिकार		
उचित उपाय से सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए	३-१-३१	४६—५०
सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर इत्यादि	३-२-३२—३४	५०—५२
सम्यग्ज्ञान का लक्षण	३-५-३५	५२—५३
सम्यग्ज्ञान के आठ अंग	३-६-३६	५३—५५
(४) सम्यक् चारित्र अधिकार		
सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् सम्यक्चारित्र ग्रहण करना चाहिए	४-१-३७—३८	५६—५७
चारित्र का लक्षण, भेद तथा उनके स्वामी	४-३-३९—४१	५७—६०
पाँच पाप एक हिंसा स्वरूप ही हैं	४-६-४२	६०—६१
हिंसा का स्वरूप तथा हिंसा/अहिंसा का निश्चय लक्षण	४-७-४३—४९	६१—६८
एकपक्षाग्रही का निषेध	४-१४-५०	६८—६९
द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा आठ सूत्र	४-१५-५१—५८	७०—७८
नयभेद समझना अति कठिन है	४-२३-५९	७८—७९
हिंसा के त्याग का उपदेश तथा उसका क्रम	४-२४-६०—६१	७९—८१
मद्य (शराब) के दोष इत्यादि	४-२६-६२—६४	८१—८३
मांसाहार में हिंसा	४-२९-६५	८३—८४
क्या स्वयं मरे हुए जीव का मांस खाने में हिंसा नहीं।	४-३०-६६—६८	८४—८६
मधु के दोष	४-३३-६९—७०	८६—८८
मधु, मदिरा, मक्खन और मांस को व्रती पुरुष न खाए	४-३५-७१	८८

विषय	श्लोक सं०	पृष्ठ सं०
पांच उदुम्बर फल के दोष	४-३६-७२—७३	८८—९०
अष्टमूलगुण धारी जीव ही उपदेश के पात्र हैं	४-३८-७४	९०—९१
हिंसादि के त्याग करने का विधान	४-३९-७५—७७	९१—९३
अहिंसा धर्म का पालन करने वाले सावधान हों	४-४२-७८—७९	९४—९६
देवी-देवताओं के निमित्त से भी हिंसा नहीं करनी चाहिए	४-४४-८०—८१	९६—९७
छोटे-बड़े, एक-अनेक किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए	४-४६-८२	९७—९८
हिंसक जीवों का भी घात नहीं करना चाहिए	४-४७-८३	९८—९९
दयाभाव से भी हिंसा न करे	४-४८-८४—८५	९९—१०१
सुखी जीवों का भी घात नहीं करना चाहिये इत्यादि	४-५०-८६—८८	१०१—१०३
अन्य की क्षुधापूर्ति के लिए अपने शरीर का भी घात नहीं करना चाहिए	४-५३-८९	१०३—१०४
जैनमत के रहस्य को जानकर जीव मूढ़ता को प्राप्त नहीं होता	४-५४-९०	१०४—१०५
सत्यव्रत का कथन तथा असत्य वचन के भेद और स्वरूप	४-५५-९१—१०१	१०५—११३
चौर्य पाप का वर्णन इत्यादि तथा त्याग का क्रम	४-६६-१०२—१०६	११३—११८
कुशील का स्वरूप तथा त्याग का क्रम	४-७१-१०७—११०	११८—१२०
परिग्रह पाप का स्वरूप, मूर्च्छा-भाव, परिग्रह के भेद, त्याग करने का उपाय तथा क्रम	४-७५-१११—१२८	१२१—१३६

विषय	श्लोक सं०	पृष्ठ सं०
रात्रि भोजन त्याग, रात्रि भोजन में भावहिंसा/द्रव्यहिंसा	४-६३-१२९ १३५	१३६—१४२
शीलव्रत अहिंसाणुव्रतादि की रक्षा करते हैं	४-१००-१३६	१४२ —१४३
दिग्व्रत नामक गुणव्रत का स्वरूप तथा उसके पालने का फल	४-१०१-१३७—१३८	१४३—१४४
देशव्रत गुणव्रत का स्वरूप	४-१०३-१३९—१४०	१४४—१४६
अनर्थदण्डत्यागव्रत गुणव्रत का स्वरूप और उसके भेद, तथा जुआ भी त्यागना चाहिए	४-१०५-१४१—१४७	१४७—१५३
सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप, समय और विधि इत्यादि	४-११२-१४८—१५०	१५३—१५७
प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का स्वरूप विधि तथा फल	४-११५-१५१—१६०	१५७—१६५
भोगोपभोग शिक्षाव्रत का स्वरूप तथा यथाशक्ति त्याग	४-१२५-१६१—१६६	१६५—१७१
वैयावृत्य शिक्षाव्रत का स्वरूप	४-१३१-१६७	१७२
नवधा भक्ति, दातार के सातगुण, दान करने योग्य वस्तुएं, पात्रों के भेद इत्यादि	४-१३२-१६८—१७४	१७३ —१८०

(५) सल्लेखना अधिकार

अन्त में सल्लेखना ग्रहण करना चाहिए	५-१-१७५ —१७६	१८१—१८३
सल्लेखना आत्मघात नहीं, सल्लेखना की विधि	५-३-१७७ —१८०	१८३—१८८

(६) अतिचार अधिकार

अतिचारों का त्याग करना चाहिये	६-१-१८१	१८९
सम्यग्दर्शन के अतिचार	६-२-१८२	१९०

विषय	श्लोक सं०	पृष्ठ सं०
अहिंसा इत्यादि पांच अणुव्रतों के अतिचार	६-३-१८३—१८७	१६०—१६६
दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्ड त्यागव्रत के अतिचार	६-६-१८८—१६०	१६६—१६६
सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा वैयावृत्य व्रतों के अतिचार	६-१२-१६१—१६४	१६६—२०३
सल्लेखना व्रत के अतिचार	६-१६-१६५	२०३—२०४
अतिचारों के त्याग का फल	६-१७-१६६	२०४—२०५

(७) सकलचारित्र अधिकार

तप का भी आचरण करना चाहिए	७-१-१६७	२०६—२०७
बाह्य तथा अन्तरंग तप के भेद	७-२-१६८—१६६	२०७—२११
मुनिव्रत धारण करने का उपदेश	७-४-२००	२११—२१२
छह आवश्यकों का वर्णन	७-५-२०१	२१२—२१४
तीन गुप्तियों तथा पाँच समितियों का वर्णन	७-६-२०२—२०३	२१४—२१७
दस धर्मों का वर्णन	७-८-२०४	२१७—२२०
बारह भावनाओं का वर्णन	७-६-२०५	२२०—२२८
बाईस परीषहों का वर्णन	७-१०-२०६—२०८	२२८—२३४
मोक्षाभिलाषी को निरन्तर रत्नत्रय का पालन करना चाहिए	७-१३-२०६	२३४—२३५
गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिए	७-१४-२१०	२३५—२३६
अपूर्ण रत्नत्रय कर्म बंध का कारण है	७-१५-२११	२३६—२३७
रत्नत्रय और राग का फल	७-१६-२१२—२१४	२३७—२४०
आत्मा के साथ कर्मबंध का कारण	७-१६-२१५	२४०—२४३
रत्नत्रय कर्मबंध का कारण नहीं	७-२०-२१६	२४३—२४४

विषय	श्लोक सं०	पृष्ठ सं०
रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों के भी बंध का कारण नहीं	७-२१-२१६—२२१	२४४–२४६
निश्चय और व्यवहार रूप रत्नत्रय मोक्ष में पहुँचाता है	७-२६-२२२	२४६
अत्यन्त निर्मल सिद्धपरमेष्ठी मोक्ष में प्रकाशमान होते हैं	७-२७-२२३	२५०
परमात्मा का स्वरूप	८-२८-२२४	२५१
जैननय विवक्षा	७-२६-२२५	२५२—२५३
ग्रन्थकर्त्ता आचार्य की लघुता	७-३०-२२६	२५३–२५४

।। श्री वीतरागाय नमः ।।

श्रीमदमृतचन्द्राचार्य-विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

(१) उत्थानिका

मंगलाचरण—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।।
।। १ – १—१ ।।

अन्वयार्थ—(**यत्र**) जिसमें (**दर्पणतल इव**) दर्पण के तल/सतह के समान (**सकला**) सम्पूर्ण/समस्त (**पदार्थमालिका**) पदार्थों का समूह (**समस्तैरनन्तपर्यायैः समं**) त्रिकालवर्ती समस्त अनन्त पर्यायों सहित (**प्रतिफलति**) प्रतिबिम्बित होता है (**तत्**) वह (**परं ज्योति**) सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना रूप प्रकाश (**जयति**) जयवन्त हो।

अर्थ—जिसमें दर्पण के तल/सतह के समान सम्पूर्ण पदार्थों का समूह त्रिकालवर्ती समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है, वह सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना रूप प्रकाश जयवन्त हो।

विशेषार्थ—यह अध्यात्मविद्या के मर्मज्ञ आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' नाम का ग्रन्थ है। इसमें भव्य जीवों के हितार्थ पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् निज शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय, गृहस्थोचित अहिंसादि व्रतों का स्वरूप तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का अतिसुगम प्रतिपादन है।

सर्वप्रथम ही परंज्योति—केवलज्ञान की जय-जयकार करते हुये मंगल श्लोक कहा है। सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना रूप प्रकाश की (केवल-ज्ञान की) कुछ ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसमें तीनों लोक—मध्य-लोक, ऊर्ध्वलोक और अधोलोक—के समस्त जीवादि चराचर पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों सहित सहज स्वभाव से ही दर्पण के समान प्रति-बिम्बित होते हैं। मंगलाचरण में आचार्यश्री ने केवलज्ञान को दर्पण की उपमा दी है। कोई पदार्थ अपने स्वरूप को छोड़कर, प्रतिबिम्बित होने की अभिलाषा से अथवा बलात् दर्पण के पास नहीं जाता और न ही दर्पण अपने स्वभाव को छोड़कर, पदार्थ को प्रतिबिम्बित करने की इच्छा से अथवा जबरन उसके पास जाता है; पदार्थ को ऐसा राग-द्वेष भी नहीं है कि यह दर्पण मेरे लिए हितकारी है, इसलिए उसमें प्रतिबिम्बित होऊं या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिये इसमें प्रतिबिम्बित न होऊं। दर्पण को भी पदार्थ के प्रति राग-द्वेष नहीं है कि यह पदार्थ मेरे लिए हितकारी है, इसलिए इसे प्रति-बिम्बित करूं, या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिये इसे प्रति-बिम्बित न करूं। फिर भी इनका सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि दर्पण में उसकी स्वच्छतागुण तथा योग्यता के कारण योग्य क्षेत्र में स्थित घट-पट आदि पदार्थ अनायास ही स्वभाव से प्रतिबिम्बित होते हैं।

ठीक यही स्थिति परंज्योति—शुद्धचेतना रूप प्रकाश/केवलज्ञान की है। ज्ञान में पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने की शक्ति है तथा ज्ञेयों—पदार्थों में प्रतिबिम्बित होने की शक्ति है। ज्ञान अपने स्वरूप को छोड़कर, प्रतिबिम्बित करने की अभिलाषा से अथवा बलात् पदार्थ के पास नहीं जाता; ज्ञान को ऐसा राग-द्वेष भी नहीं है कि यह पदार्थ मेरे लिये हितकारी है, इसलिये इसे प्रतिबिम्बित करूं, या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिये इसे प्रतिबिम्बित न करूं। पदार्थ को भी ज्ञान के प्रति ऐसा राग-द्वेष नहीं है कि यह (ज्ञान) मेरे लिये हितकारी है, इसलिये इसमें प्रतिबिम्बित होऊं, या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिए इसमें प्रतिबिम्बित न होऊं। फिर भी निरावरण ज्ञान में सर्वोत्कृष्ट निर्मलता तथा योग्यता के कारण तीन लोक में स्थित समस्त जीवादि चराचर पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती

अनन्त पर्यायों सहित दर्पण के समान सहज स्वभाव से ही प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा कोई पदार्थ या पर्याय नहीं जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी परंज्योति—सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना—स्तवन करने योग्य है।

मंगलाचरण में किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार न करके गुण को (परंज्योति को) नमस्कार क्यों किया गया है? इसका समाधान—भक्त दो प्रकार के होते हैं—एक आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षा-प्रधानी। जो देव-शास्त्र-गुरु के उपदेश को प्रमाण मानकर, उसका अनुसरण करके ही भक्ति-स्तुति इत्यादि करते हैं, वे आज्ञाप्रधानी हैं। जो सम्यग्ज्ञान द्वारा पहले भक्ति-स्तुति इत्यादि करने योग्य गुणों का अच्छी तरह निश्चय करते हैं, तत्पश्चात् स्तुति इत्यादि विनय करते हैं, वे परीक्षाप्रधानी हैं। क्योंकि कोई पद अथवा वेश गुणों के बिना पूज्य नहीं है, इसलिये आचार्यश्री ने परीक्षाप्रधानी होने के कारण गुण को (परंज्योति को) नमस्कार किया है। यह गुण अरहन्त और सिद्ध में ही होता है अतः वास्तव में तो उन्हीं को नमस्कार हुआ।

आगम को नमस्कार -

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥
॥ १-२-२ ॥

अन्वयार्थ—(**निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्**) जन्म से अन्धे पुरुषों के हाथी-विधान का निषेध करने वाला (**सकलनयविलसितानाम्**) समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु-स्वभाव का (**विरोधमथनं**) विरोध दूर करने वाला (**परमागमस्य**) उत्कृष्ट जैन आगम/सिद्धान्त के (**जीवं**) जीवभूत (**अनेकान्तम्**) अनेकान्त को (**नमामि**) मैं नमस्कार करता हूँ।

अर्थ—जन्म से अन्धे पुरुषों के हाथी-विधान का निषेध करने वाला, समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु स्वभाव का विरोध दूर करने वाला, उत्कृष्ट जैन आगम/सिद्धान्त के जीवभूत अनेकान्त को मैं (अमृतचन्द्राचार्य) नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—इस श्लोक में आचार्यश्री ने पुनः मंगलाचरण के रूप में उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार किया है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है—प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों/धर्मों से युक्त है। वस्तु के अनेकान्त-स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। "स्याद्+वाद"=कथंचित् नय-अपेक्षा से वस्तु के स्वभाव का कथन करना अथवा नाना दृष्टिकोणों से वस्तु स्वरूप का विचार करना स्याद्वाद है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है; जो सत् है वही असत् भी है; जो नित्य है वही अनित्य भी है—इस प्रकार एक ही वस्तु में दो विरोधी शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है। वस्तु के अनन्त धर्मों का कथन एक साथ संभव नहीं। शब्दों की शक्ति सीमित है। एक समय में एक ही धर्म का कथन किया जा सकता है। जिसकी विवक्षा की जाती है, वह मुख्य होता है और शेष सभी धर्म गौण हो जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गौण धर्म का लोप हो जाता है। वस्तु में सभी धर्म प्रतिसमय विद्यमान रहते हैं, परन्तु इनकी विवक्षा वक्ता की इच्छानुसार होती है। स्याद्वाद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, उनका अभाव नहीं करता। अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है। जिस प्रकार बिखरे हुये मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से सुन्दर हार बन जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वाद-रूपी सूत्र में पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुत प्रमाण कहे जाते हैं।

विरोध वस्तु-स्वरूप में नहीं है, अज्ञान में है। जिस प्रकार कुछ जन्म के अन्धे पुरुषों ने हाथी के पृथक्-पृथक् अंगों का स्पर्श किया और उसी के आधार पर हाथी के शरीर का आकार निश्चित कर लिया। वे हाथी के सर्वांग आकार को न जानने के कारण आपस में विवाद करते हैं तथा एक-दूसरे को झूठा ठहराते हैं; परन्तु वस्तु-स्वरूप अर्थात् हाथी के शरीर का आकार निश्चय नहीं कर पाते। ऐसी हालत में कोई नेत्रवान पुरुष ही हाथी के शरीर का सर्वांग वर्णन करके उनके भ्रम को दूर कर सकता है। इसी प्रकार अज्ञानी अल्पज्ञ पुरुष वस्तु के अनेक अंगों—अनेक धर्मों का अपनी बुद्धि से नाना प्रकार का निश्चय कर लेता है और वस्तु के सर्वांग को न जानकर एकान्त रूप

से हठाग्रही होकर विवाद करता है। कुछ मतावलम्बी वस्तु को केवल नित्य ही मानते हैं, तथा अन्य केवल अनित्य/क्षणिक ही मानते हैं। परन्तु स्याद्वाद-विद्या के बल से सम्यग्ज्ञानी कहता है कि वस्तु न तो सर्वथा नित्य है और न ही सर्वथा अनित्य है। यदि सर्वथा नित्य ही माना जाये तो अनेक पर्यायों - अवस्थाओं का पलटना (होना) किस प्रकार सम्भव हो सकता है? यदि वस्तु नित्य कूटस्थ हो तो वस्तु का ही लोप हो जायेगा। और जो सर्वथा अनित्य/क्षणिक ही माना जाये तो "यह वही वस्तु है, जो पहले देखी थी"—इस प्रकार का ज्ञान कैसे संभव है? इसलिये वस्तु द्रव्य को अपेक्षा कथंचित् नित्य है और पर्याय की अपेक्षा कथंचित् अनित्य/क्षणिक है। इस प्रकार स्याद्वाद समस्त एकान्त नय-विवादों को मिटाकर सर्वांग वस्तु स्वभाव को प्रकाशित करके विरोध को दूर करता है। इसलिए स्याद्वाद का परमागम का जीवभूत—प्राण कहा गया है।

नयविवक्षा से वस्तु में अनेक परस्पर विरोधी स्वभाव पाये जाते हैं, परन्तु स्याद्वाद उन सब विरोधों को दूर कर देता है। जैसे 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों एक दूसरे के बिलकुल विरोधी हैं, परन्तु स्याद्वाद से सिद्ध करने में समस्त विरोध दूर हो जाते हैं। क्योंकि एक ही पदार्थ स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव) की अपेक्षा कथंचित् 'अस्तिरूप' है और परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव) की अपेक्षा कथंचित् 'नास्तिरूप' है। द्रव्य की अपेक्षा कथंचित् एकरूप है तथा पर्याय को अपेक्षा कथंचित् अनेक रूप है। द्रव्य की अपेक्षा कथंचित् नित्य है और पर्याय की अपेक्षा कथंचित् अनित्य/क्षणिक है। संज्ञा, संख्या, लक्षण तथा प्रयोजन की अपेक्षा से गुण, पर्याय आदि कथंचित् भेदरूप हैं और सत् की अपेक्षा अभेदरूप हैं। वस्तु के स्वरूप का सर्वांग अविरोधी निश्चय करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अनेकान्त का आश्रय लेना चाहिये। उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुये आचार्यश्री ने परमागम के जीव-भूत अनेकान्त को नमस्कार किया है।

ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा—

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥
॥ १-३-३ ॥

अन्वयार्थ—(**लोकत्रयैकनेत्रं**) तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र (**परमागमं**) परम जैन आगम को (**प्रयत्नेन**) अनेक प्रकार के उपायों से (**निरूप्य**) तथा जैन सिद्धान्त को परम्परा से जानकर (**अस्माभिः**) हमारे द्वारा (**विदुषां**) विद्वानों के लिये (**अयं**) यह (**पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**) 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' ग्रन्थ (**उपोद्ध्रियते**) प्रस्तुत किया जाता है।

अर्थ—तीनलोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र परम जैन आगम को अनेक प्रकार के उपायों से तथा जैनसिद्धान्त को परम्परा से जानकर हमारे द्वारा विद्वानों के लिये यह 'पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय' ग्रन्थ प्रस्तुत किया जाता है।

विशेषार्थ—आचार्यश्री ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हुये कहते हैं कि—'मैं यह ग्रन्थ अपनी बुद्धि से कल्पना करके नहीं रच रहा हूं, बल्कि तीनोंलोक सम्बन्धी समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र—जैन परमागम को अनेक प्रकार के उपायों से तथा जैन सिद्धान्त को केवली-श्रुतकेवली तथा पूर्वाचार्यों की परम्परा से जानकर, ज्ञानी जीवों—जिन्हें प्रमाण, नय, निक्षेपादि का प्रारंभिक ज्ञान है, ऐसे विद्वानों के लिये यह 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' नाम का ग्रन्थ अथवा 'निज शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय' प्रकट करता हूं। जब तक प्रमाण, नय और निक्षेपादि का सामान्य ज्ञान न हो, तब तक परमागम को समझना शक्य नहीं है।

वक्ता का लक्षण—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥
॥ १-४-४ ॥

अन्वयार्थ—(**मुख्योपचार**) मुख्य और उपचार (**विवरण**) कथन के विवेचन से (**निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः**) शिष्यों के दुर्निवार/अपार अज्ञान भाव को जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा जो (**व्यवहार-निश्चयज्ञाः**) व्यवहार और निश्चय के जानने वाले हैं, ऐसे आचार्य (**जगति**) जगत् में (**तीर्थम्**) धर्म-तीर्थ का (**प्रवर्तयन्ते**) प्रवर्तन कराते हैं।

अर्थ—मुख्य और उपचार कथन के विवेचन से शिष्यों के दुर्निवार/अपार अज्ञानभाव को जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा जो व्यवहारनय और निश्चयनय के जानने वाले हैं—ऐसे आचार्य जगत् में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं।

विशेषार्थ—उपदेश देने वाले आचार्य में आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान, संयमभाव, क्रोधादि कषायों का अभाव, शान्त स्वभाव इत्यादि अनेक गुण होने चाहियें। परन्तु इनके साथ-साथ व्यवहारनय और निश्चयनय का ज्ञान होना अति आवश्यक और मुख्य है। क्योंकि जीवों के अनादि काल से चला आ रहा अज्ञान मिथ्यात्वभाव मुख्य (निश्चयनय) तथा उपचार (व्यवहारनय) के उपदेश के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। मुख्य कथन अर्थात् वस्तु का वास्तविक स्वरूप तो निश्चयनय के, और उपचार कथन व्यवहारनय के अधीन है।

निश्चयनय क्या है?—जो अभेद व अनुपचार से वस्तु-स्वरूप का निश्चय करता है वह निश्चयनय है। निश्चयनय स्वाश्रित अर्थात् आत्मा के आश्रित है। जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव पाये जावें, उस द्रव्य में उन्हीं की स्थापना करना तथा किंचित्मात्र भी अन्य कल्पना नहीं करने का नाम 'स्वाश्रित' है। गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी का भेद अथवा द्रव्य में गुण या पर्याय का भेद करना निश्चयनय का विषय नहीं है। अन्य द्रव्य के सम्बन्ध से अन्य द्रव्य में उपचरित होने वाला धर्म भी निश्चयनय का विषय नहीं है। निश्चयनय का विषय तो भेद और उपचार रहित अखण्ड द्रव्य है। इसी कथन को मुख्य कथन अथवा निश्चयनय का कथन कहते हैं।

अनादि काल से यह जीव अज्ञानभाव—मिथ्यात्वभाव के कारण स्त्री-पुत्र, धन-सम्पदा आदि तथा शरीरादि, आत्मा से भिन्न बाह्य पर-पदार्थों को अपना स्वरूप मानता आ रहा है; और चारों गतियों की चौरासी लाख योनियों में पुनः पुनः जन्म-मरण करता हुआ अनन्त दुःख भोग रहा है। अपने शुद्धस्वरूप को न जानता हुआ, शरीराश्रित नाना क्रियाकाण्डों को ही करने योग्य मानकर संसार के कारणभूत शुभोपयोग को ही मुक्ति का कारण मानकर अपने स्वरूप से च्युत हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है। निश्चयनय के विषय-भूत आत्मा को जब तक न जाने तब तक जीव अज्ञानी ही है। मुख्य कथन (निश्चयनय) के उपदेश से इस अनादि अज्ञानी जीव के अज्ञानभाव का अभाव होकर कर्म-आस्रव और आत्मा के स्वरूप का भेदज्ञान होने से अनादि कर्मबन्ध-सन्तति रुक जाती है। समस्त द्रव्यों से भिन्न निज शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव होता है। तब परमानन्द रूप अपने शुद्ध आत्म स्वरूप में लीन होकर केवलदशा (केवलज्ञान) प्राप्त करता है। इसलिये इस प्रकार का मुख्य कथन अर्थात् निश्चय-नय का उपदेश भी आवश्यक है। निश्चयनय को जाने विना यथार्थ उपदेश संभव नहीं है। जो स्वयं ही न जानता हो तो वह उपदेश कैसे दे सकता है। अतः उपदेशक को मुख्य कथन का ज्ञाता होना आवश्यक है।

व्यवहारनय क्या है ? --जो नय भेद और उपचार से वस्तु का कथन करता है वह व्यवहारनय है। गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी को भेद करके जो वस्तु का ग्रहण करता है वह व्यवहारनय का विषय है। जो परद्रव्य के आश्रित है अर्थात् पराश्रित है उसे व्यवहार नय कहते हैं। जो किसी भी कारण से अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में आरोपित करे उसे 'पराश्रित' कहते है और उसी का नाम उपचार कथन है।

व्यवहारनय का कथन भी यथापदवी यथार्थ है। इसे जानकर ही आत्मा और शरीरादिक के सम्बन्धरूप संसार दशा का ज्ञान होता है। संसार के कारण आस्रव-बन्ध तथा मुक्त होने के उपाय संवर-निर्जरा का बोध होता है। जो इस व्यवहार —साधन को जाने

बिना ही इसको छोड़कर शुद्धोपयोगी होने का प्रयत्न करता है, वह अवश्य ही पापाचरण में लीन होकर नरक-निगोद के दुःखों में जा गिरता है। इसलिये उपचार-कथन का उपदेश देना भी आवश्यक है, और यह व्यवहार नय के अधीन हैं। इस प्रकार दोनों नयों के जानने वाले उपदेशक आचार्य ही सच्चे धर्मतीर्थ के चलाने वाले होते है।

दोनों नयों का उपदेश किस प्रकार करते हैं—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥
॥ १-५-५ ॥

अन्वयार्थ—(**इह**) इस ग्रन्थ में (**निश्चयं**) निश्चयनय को (**भूतार्थं**) भूतार्थ और (**व्यवहारं**) व्यवहारनय को (**अभूतार्थं**) अभूतार्थ (**वर्णयन्ति**) वर्णन करते हैं (**प्रायः**) प्रायः (**भूतार्थबोध-विमुखः**) भूतार्थ के ज्ञान से विरुद्ध जो भी अभिप्राय है, वह (**सर्वोऽपि**) सभी (**संसारः**) संसार स्वरूप है।

अर्थ—इस ग्रन्थ में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। प्रायः भूतार्थ के ज्ञान से विरुद्ध जो भी अभिप्राय है, वह सभी संसार-स्वरूप है।

विशेषार्थ—इस श्लोक में आचार्यश्री ने निश्चयनय को 'भूतार्थ' और व्यवहारनय को 'अभूतार्थ' कहा है; और निश्चयनय के विपरीत जो भी अभिप्राय (परिणाम) हैं, उन सबको संसार-स्वरूप बतलाया है, अर्थात् उनका फल संसार ही है।

'भूतार्थ' का अर्थ है—निश्चय ही पदार्थों में पाया जाने वाला भाव। इसी को सत्यार्थ भी कहते हैं। जिस प्रकार कोई सत्यवादी सत्य ही बोलता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता, उसी प्रकार निश्चय ही पदार्थों में पाये जाने वाले भाव के, अन्य किसी कल्पना के बिना, ज्यों का त्यों कहने को भूतार्थ अथवा सत्यार्थ कहते हैं। यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध

है (दोनों एक ही क्षेत्र में स्थित हैं) और देखने में दोनों मिले हुए जान पड़ते हैं, तो भी निश्चयनय आत्मा को शरीरादि अन्य द्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है। यही भिन्नता मुक्त अवस्था में प्रकट होती है। इसलिये पदार्थ के स्वरूप को ज्यों का त्यों प्रकट करने के कारण निश्चयनय भूतार्थ/सत्यार्थ है।

'अभूतार्थ' का अर्थ है—पदार्थ में न पाये जाने वाले कल्पित-भाव। इसी को असत्यार्थ भी कहते हैं। जिस प्रकार कोई असत्यवादी जरा सा भी बहाना पाकर अनेक कल्पना करके असत्य को सत्य रूप प्रकाशित करता है, उसी प्रकार पदार्थ में न पाये जाने वाले अनेक कपोलकल्पित भावों को आरोपित करने को अभूतार्थ अथवा असत्यार्थ कहते हैं। यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न हैं, तथापि व्यवहारनय एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का बहाना पाकर आत्मा को शरीरादिक परद्रव्यों से एकत्व रूप कहता है। मुक्त अवस्था में भिन्नता प्रत्यक्ष ही प्रकट हो जाती है, तब व्यवहारनय भी भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने को तैयार होता है। इसलिए आचार्य श्री ने निश्चयनय के ज्ञान से विपरीत जो भी परिणाम हैं, उन सबको संसार-स्वरूप कहा है।

इस जीव के परिणाम जब निश्चय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीर आदिक परद्रव्यों में एकत्व-बुद्धि करके परिणमन करते हैं, तब उसी को संसार कहा जाता है। इससे भिन्न संसार कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। इसलिये जो जीव संसार से मुक्त होना चाहता है उसे शुद्ध निश्चयनय के सन्मुख रहना ही योग्य है। कर्मों से भिन्न आत्मा के देखने वालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है। इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। जैसे- कोई पुरुष तो ऐसे गंदले जल को पीता है जिसकी स्वच्छता कीचड़ मिलने से नष्ट हो गई है, और कोई दूसरा पुरुष उसी गंदले जल को पहले निर्मली डालकर ऐसा स्वच्छ कर लेता है कि उसका पुरुषाकार प्रतिबिम्ब उस जल में झलकने लगता है, तत्पश्चात् उसका आस्वादन करता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव, जिसका ज्ञानस्वभाव कर्म-संयोग के कारण ढक गया है, वह अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है। इसके

विपरीत ज्ञानी जीव अपनी बुद्धि से शुद्धनिश्चयनय के द्वारा कर्म और आत्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानकर, अपनी शुद्ध-निर्मल आत्मा का ही अनुभव करता है, अपने चैतन्य शुद्धस्वरूप का ही आस्वादन करता है। अतः निश्चयनय निर्मली के समान है, उसी का श्रद्धान और ज्ञान करना चाहिये। कहा भी है—'व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रकट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से सत्य, भूत अर्थ को प्रकट करता है।'

(आ० अमृतचन्द्र-टीका स०सा० गा० ११)

जो श्रोता कथित अर्थ के उपदेश को ग्रहण करने योग्य नहीं है उनका कथन—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥

॥ १-६-६ ॥

अन्वयार्थ—(**मुनीश्वराः**) मुनीश्वर (**अबुधस्य**) अज्ञानी जीवों को (**बोधनार्थम्**) ज्ञान उत्पन्न करने के लिये (**अभूतार्थ**) व्यवहारनय का (**देशयन्ति**) उपदेश देते हैं (**यः**) जो जीव (**केवलं**) केवल (**व्यवहारम् एव**) व्यवहारनय को ही (**अवैति**) जानता है (**तस्य**) उसके लिये (**देशना**) उपदेश (**नास्ति**) नहीं है।

अर्थ—मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये व्यवहारनय का उपदेश देते हैं। जो जीव केवल व्यवहारनय को ही जानता है, उसके लिये उपदेश नहीं है।

विशेषार्थ—अनादिकालीन अज्ञानी जीव को व्यवहारनय के उपदेश के बिना समझाना संभव नहीं, इसलिये उपदेशक आचार्य व्यवहारनय के द्वारा ही उन्हें समझाते हैं। जैसे किसी म्लेच्छ को किसी ने आशीर्वाद के रूप में 'स्वस्ति' कहा। वह म्लेच्छ 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ न समझने के कारण उसके मुँह की ओर ताकता रहा। तभी किसी अन्य पुरुष ने उसे बताया कि 'स्वस्ति' का अर्थ है—'तेरा

कल्याण हो'। तब वह म्लेच्छ प्रसन्न हुआ। ठीक इसी प्रकार उपदेशक आचार्य ने जब अज्ञानी जीव को 'आत्मा' शब्द कहकर उपदेश दिया तो वह कुछ भी नहीं समझ सका और आचार्य के मुँह की ओर ताकता रहा। तब निश्चयनय और व्यवहारनय के ज्ञाता आचार्य ने व्यवहार-नय के द्वारा गुण-गुणी इत्यादि में भेद उत्पन्न करके उसे 'आत्मा' शब्द इस प्रकार समझाया—'जो देखने वाला, जानने वाला तथा आचरण करने वाला पदार्थ है उसे आत्मा कहते हैं।' तब वह आनन्दित हुआ 'आत्मा' के निजस्वरूप को समझ पाता है।

घी से भरे हुये मिट्टी के घड़े को व्यवहारनय से 'घी का घड़ा' कहा जाता है। कोई पुरुष जन्म से ही उसको 'घी का घड़ा' जानता है, अन्य किसी प्रकार नहीं समझता। निश्चयनय से विचार करें तो घड़ा तो मिट्टी का ही है, परन्तु उसमें घी रखा होने के कारण व्यवहार में समझाने के लिये 'घी का घड़ा' ही कहना पड़ता है। इसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित नाना पर्यायों में जन्म लेता है। जिन्हें व्यवहार से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहा जाता है। यह अज्ञानी जीव अनादि से उन पर्यायों को धारण करता हुआ, उन्हीं को अपना वास्तविक स्वरूप माने हुये है। जब कोई उसे देव, मनुष्य आदि कहकर समझावे तभी वह समझता है, अन्य किसी तरह नहीं समझता। यदि आत्मा का नाम 'चैतन्यस्वरूप' कहा जाये तो अन्य ही किसी पदार्थ को आत्मा समझ लेता है। निश्चय से विचार करें तो आत्मा 'चैतन्यस्वरूप' ही है, परन्तु अज्ञानी जीव को समझाने के लिये आचार्य गति (नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति) तथा जाति (एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक) आदि के भेद द्वारा व्यवहार-नय से आत्मा का वर्णन करके उसके स्वरूप को समझाते हैं।

यहाँ आचार्यश्री का ऐसा अभिप्राय है कि शिष्यों को योग्यता-नुसार वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान व्यवहार और निश्चय दोनों नयों के कथन द्वारा कराना चाहिये। जो जीव केवल व्यवहार मार्ग का ही श्रद्धान करता है तथा उसी का आचरण करता है, निश्चय के श्रद्धान अर्थात् अपने परमार्थ स्वरूप को नहीं समझता, ऐसे अज्ञानी—मिथ्या-दृष्टियों को उपदेश देने से कोई लाभ नहीं है।

केवल व्यवहारनय के श्रद्धान होने का क्या कारण है—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥
॥ १-७-७ ॥

अन्वयार्थ—(**यथा**) जिस तरह (**अनवगीतसिंहस्य**) सिंह को बिलकुल ही न जानने वाले पुरुष के लिये (**माणवक:**) बिल्ली (**एव**) ही (**सिंह**) सिंह रूप (**भवति**) होती है (**हि**) निश्चय ही (**तथा**) उसी तरह (**अनिश्चयज्ञस्य**) निश्चयनय के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष के लिये (**व्यवहार**) व्यवहारनय (**एव**) ही (**निश्चयतां**) निश्चयपने को (**याति**) प्राप्त होता है।

अर्थ जिस तरह सिंह को बिलकुल ही न जानने वाले पुरुष के लिए बिल्ली ही सिंह रूप होती है, निश्चय ही उसी तरह निश्चयनय के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष के लिये व्यवहारनय ही निश्चयपने को प्राप्त होती है, अर्थात् वह व्यवहार को ही निश्चय मान बैठता है।

विशेषार्थ—जैसे किसी पुरुष को जिसने पहले कभी भी सिंह को देखा-जाना न हो, उसको यह बतलाया जाये कि सिंह बिल्ली के समान होता है तो वह अज्ञानवश बिल्ली को ही सिंह मान बैठता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चय के स्वरूप को न जानता हुआ, व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। वह अपने चैतन्य-स्वरूप आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण रूप मोक्षमार्ग को न पहचानता—जानता हुआ केवल व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण को ही अपनाकर अपने को मोक्षमार्गी मान लेता है। देव-शास्त्र-गुरु का अथवा सात तत्त्वार्थों इत्यादि का श्रद्धान करके अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है। थोड़े से शास्त्र को जानकर अपने को ज्ञानी मानता है। महाव्रत अथवा अणुव्रत को ग्रहण करके अपने को चारित्रवान् कहता है। शुभोपयोग से सन्तुष्ट होकर, शुद्धोपयोग रूप मोक्षमार्ग में आलसी होकर उद्यम नहीं करता है। ऐसा पुरुष केवल व्यवहारनय को ही पकड़े हुये है, इसलिये उसे उपदेश देना निष्फल है। यहां प्रश्न हो

सकता है —तो फिर उपदेश किसे देना चाहिये, श्रोता के क्या गुण हैं ? इसका उत्तर आचार्य अगले श्लोक में देते हैं।

श्रोता का लक्षण—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥
॥ १-८-८ ॥

अन्वयार्थ (**यः**) जो जीव (**व्यवहारनिश्चयौ**) व्यवहारनय और निश्चयनय को (**तत्त्वेन**) वस्तुस्वरूप के द्वारा (**प्रबुध्य**) यथार्थ रूप से जानकर (**मध्यस्थः**) मध्यस्थ (**भवति**) होता है (**सः**) वह (**एव**) ही (**शिष्यः**) शिष्य (**देशनायाः**) उपदेश का (**अविकलं**) सम्पूर्ण (**फलं**) फल (**प्राप्नोति**) प्राप्त करता है।

अर्थ—जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तुस्वरूप के द्वारा यथार्थ रूप से जानकर मध्यस्थ होता है, अर्थात् दोनों नयों के पक्षपात रहित होता है, वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

विशेषार्थ - श्रोता में भी शास्त्र तथा गुरूपदेश में श्रद्धा-भक्ति, निज शुद्ध तत्त्व तथा मोक्षमार्ग के प्रति जिज्ञासा और लगन इत्यादि अनेक गुण होने चाहियें। परन्तु व्यवहारनय और निश्चयनय को भली प्रकार जानकर, किसी एक नय का पक्ष ग्रहण करके हठाग्रही न होना यह गुण मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण है।

मोक्षमार्ग में लगे हुये जीव को व्यवहारनय अथवा निश्चयनय - किसी नय को भी छोड़ना उचित नहीं है। यदि निश्चयनय का पक्षपाती होकर व्यवहारनय को छोड़ देगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का ही लोप हो जायेगा। यदि व्यवहारनय का पक्ष पकड़ कर निश्चयनय का छोड़ देता है तो मोक्ष के आधारभूत निजशुद्धस्वरूप का अनुभव ही संभव नहीं है। इसलिये व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर यथायोग्य पक्षपातरहित अंगीकार करना ही उत्तम श्रोता का लक्षण है।

वक्ता और श्रोता दोनों में ही व्यवहारनय और निश्चयनय को यथार्थ रूप से जानने का गुण तो समान है, परन्तु वक्ता में इन गुणों की बहुलता है तथा श्रोता में वही गुण अल्पमात्रा में रहते हैं।

पुरुष का स्वरूप—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥
॥ १-९-९ ॥

अन्वयार्थ—(**पुरुषः**) पुरुष—आत्मा (**चिदात्मा**) चैतन्यस्वरूप (**अस्ति**) है (**स्पर्शगन्धरसवर्णैः**) स्पर्श, गन्ध, रस और वर्ण से (**विवर्जितः**) रहित है (**गुणपर्ययसमवेतः**) गुण और पर्याय सहित है तथा (**समुदयव्ययध्रौव्यैः**) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (**समाहितः**) से युक्त है।

अर्थ—पुरुष अर्थात् आत्मा चैतन्यस्वरूप है। स्पर्श, गन्ध, रस और वर्ण से रहित है। गुण और पर्याय सहित है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।

विशेषार्थ— इस श्लोक में आचार्यश्री ने 'पुरुष' का स्वरूप बताते हुये उसके चार विशेषणों का वर्णन किया है— (१) चैतन्यस्वरूप है, (२) स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण रहित है, (३) गुण और पर्याय सहित है तथा (४) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। उन्हीं का खुलासा करते हैं—

(१) लोक में उत्तम गुणों का जो सेवन करे उसे 'पुरुष' कहते हैं, अथवा ज्ञान-दर्शन रूप उत्तम 'चेतना' जिसका लक्षण है उसे पुरुष कहते हैं। लक्षण तीन दोषों से रहित होना चाहिये। 'चेतना' लक्षणों अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असंभव—इन तीन दोषों से रहित होने से पुरुष अर्थात् आत्मा का असाधारण लक्षण है। जो लक्षण किसी लक्ष्य (जिस द्रव्य का लक्षण किया जाये) में तो हो और किसी लक्ष्य में न हो उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं। परन्तु कोई भी आत्मा 'चेतना' रहित

नहीं है, इसलिये अव्याप्ति दोष नहीं लगता। यदि आत्मा का लक्षण रागादिक कहें तो अव्याप्ति दोष लगता है क्योंकि राग केवल संसारी जीवों में पाया जाता है, सिद्ध/मुक्त जीवों में नहीं। जो लक्षण लक्ष्य में हो और अलक्ष्य में भी हो उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। परन्तु 'चेतना' आत्म द्रव्य के अलावा किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाई जाती, इसलिये अतिव्याप्ति दोष नहीं लगता। यदि आत्मा का लक्षण अमूर्त्तत्व कहें तो अतिव्याप्ति दोष लगता है, क्योंकि अमूर्त्तत्व धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य तथा काल द्रव्य में भी पाया जाता है। जो लक्षण लक्ष्य में असंभव हो अर्थात् न पाया जाये उसे असंभव दोष कहते हैं। 'चेतना' आत्म द्रव्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से सिद्ध है, इसलिये असंभव दोष भी नहीं आता। यदि आत्मा का लक्षण जड़पना कहें तो असंभव दोष लगता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष से बाधित है। इस प्रकार 'चेतना' लक्षण तीनों दोषों से रहित है।

चेतना के दो भेद हैं। एक ज्ञानचेतना और दूसरी दर्शनचेतना। ज्ञान जीव का विशेष गुण है जो स्व और पर दोनों को जानने में समर्थ है। जो पदार्थों को साकाररूप, सविकल्प अथवा विशेष रूप से जाने वह ज्ञानचेतना है। जिसके द्वारा देखा जाये उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन भी जीव का विशेष गुण है। जो पदार्थ को निराकार, निर्विकल्प सामान्य रूप से जाने उसे दर्शनचेतना कहते हैं। पुनः परिणामों की अपेक्षा चेतना के तीन भेद हैं—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना। जब यह चेतना शुद्धज्ञान स्वरूप से परिणमन करती है तब ज्ञानचेतना कहलाती है। ज्ञानचेतना शुद्ध कहलाती है तथा सम्यग्दृष्टि जीव के ही होती है। जब यह चेतना राग-द्वेष-क्रोधादि कषाय रूप परिणमन करती है तब कर्मचेतना कहलाती है और जब हर्ष-विषाद, रोग-शोकादि के अनुभवन रूप परिणमन करती है, तब कर्मफलचेतना कहलाती है। इस प्रकार चेतना के अनेक भेद हैं, परन्तु आत्मा में चेतना का अभाव कभी नहीं होता। इसी चेतना से संयुक्त आत्म द्रव्य का नाम 'पुरुष' है।

(२) पुनः 'पुरुष'—आत्मा अमूर्तिक है तथा पुद्गल द्रव्य से भिन्न है। आठ प्रकार के स्पर्श (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु,

कठोर, हलका, भारी), पाँच प्रकार के रस (खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा, कसैला), दो प्रकार की गन्ध (सुगन्ध, दुर्गन्ध) तथा पाँच प्रकार के वर्ण (लाल, पीला, नीला, काला, सफेद) इत्यादि जो पुद्गल के लक्षण हैं, उनसे रहित अमूर्तिक है। क्योंकि यह आत्मा अनादि सम्बन्ध रूप पुद्गल द्रव्य में अज्ञानवश अहंकार (शरीरादि तथा पर्यायों में एकत्व बुद्धि) और ममकार रूप (प्रत्यक्ष भिन्न स्त्री-पत्र आदि में एकत्व बुद्धि) प्रवृत्ति करता है, इसलिये आत्मद्रव्य को पुद्गल द्रव्य से भिन्न प्रकट करने के लिये 'अमूर्तिक' विशेषण का प्रयाग किया गया है।

(३) पुनः 'पुरुष' गुण और पर्याय सहित है। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' गुण और पर्यायों वाला द्रव्य होता है। आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिये गुण और पर्यायों सहित विराजमान है। गुण का लक्षण सहभूत किया गया है, अर्थात् जो द्रव्य में सदाकाल पाया जावे उसे गुण कहते हैं। गुण कभी भी द्रव्य से भिन्न नहीं रहता, प्रत्येक पर्याय में सदा काल पाया जाता है।

साधारण तथा असाधारण के भेद से गुण दो प्रकार के हैं। दर्शन-ज्ञान आदि आत्मा के सदाकाल पाये जाने वाले असाधारण गुण हैं, क्योंकि यह अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, द्रव्यत्व तथा प्रदेशत्व द्रव्य के साधारण गुण हैं क्योंकि ये अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। जो द्रव्यों में अनुक्रम (एक के बाद एक) से उत्पन्न हो उसे पर्याय कहते हैं। पर्याय के भी दो भेद हैं एक व्यंजनपर्याय तथा दूसरी अर्थपर्याय। आत्मा में जो नर-नारकादि आकार रूप पर्याय होती है उन्हें विभाव व्यंजनपर्याय तथा सिद्ध के आकार रूप जो पर्याय है उसे स्वभाव व्यंजनपर्याय कहते हैं। ज्ञानादि गुणों का भी स्वभाव रूप अथवा विभाव रूप परिणमन होता है, जिन्हें स्वभाव अर्थपर्याय तथा विभाव अर्थपर्याय कहते हैं। अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य में होने वाली षट्गुणी हानि-वृद्धि को अर्थपर्याय कहते हैं। आत्मा का इन गुण और पर्यायों के साथ तादात्म्य एकता सम्बन्ध है।

(४) पुनः 'पुरुष' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् - द्रव्य है। आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। नवीन अर्थपर्याय तथा व्यंजनपर्याय का उत्पन्न होना 'उत्पाद', पूर्व पर्याय का नाश 'व्यय' तथा गुण की अपेक्षा और पर्याय की अपेक्षा शाश्वत रहना 'ध्रौव्य' कहलाता है। जिस प्रकार सोने के कंकण को तोड़कर कुण्डल बनवाया जाये तो कुण्डल पर्याय का उत्पाद होता है, कंकण पर्याय का नाश होता है, परन्तु सोना सभी पर्यायों में शाश्वत रहता है। उसी प्रकार आत्मा में भी नवीन अर्थपर्याय तथा व्यंजनपर्याय का उत्पाद, व्यय होता रहता है तथा आत्मद्रव्य सदाकाल सभी अवस्थाओं में शाश्वत रहता है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ।

पुरुष के अशुद्धता किस तरह हुई—

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥

॥ १-१०-१० ॥

अन्वयार्थ—(**सः**) वह चैतन्य आत्मा (**अनादिसन्तत्या**) अनादि सन्तति अर्थात् परिपाटी से (**नित्यं**) निरन्तर (**ज्ञानविवर्त्तैः**) ज्ञानादि गुणों के विकार रूप रागादि परिणामों से (**परिणममानः**) परिणमन करता हुआ (**स्वेषां**) अपने (**परिणामानां**) रागादि परिणामों का (**कर्त्ता च भोक्ता च**) कर्त्ता और भोक्ता भी (**भवति**) होता है।

अर्थ—वह चैतन्य आत्मा अनादि सन्तति अर्थात् परिपाटी से निरन्तर ज्ञानादि गुणों के विकार रूप रागादि परिणामों से परिणमन करता हुआ, अपने रागादि परिणामों का कर्त्ता और भोक्ता भी होता है।

विशेषार्थ—यह चैतन्य आत्मा अनादिकाल से अशुद्ध चला आ रहा है। आत्मा और द्रव्यकर्म रूपी अशुद्धता का 'सुवर्णकिट्टिकावत्'

(सुवर्ण और उसकी कीट के समान) अनादि सम्बन्ध के कारण ही यह आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य ज्ञान स्वभाव को भूला हुआ रागादि भावों को करता रहता है। उदय में आये हुए कर्मों में इष्ट-अनिष्ट भाव से राग-द्वेष तथा मोहरूप परिणमन करता है। यद्यपि इन रागादि रूप परिणमन होने में द्रव्यकर्म कारण हैं, तथापि यह परिणाम चेतनामय आत्मा के ही हैं, जोकि 'भावकर्म' कहलाते हैं। आत्मा के इन रागादि रूप परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणायें स्वयं कर्म रूप परिणमन करती हैं। इस प्रकार द्रव्य कर्म से भावकर्म और भावकर्म से नवीन द्रव्यकर्म-बन्ध —यह चक्र अनादि काल से चल रहा है।

चूंकि रागादि रूप परिणामों का कर्त्ता चैतन्य आत्मा है, इसलिये कहा जाता हैं कि इन परिणामों का व्याप्य-व्यापक भाव से आत्मा ही कर्त्ता है और भाव्य-भावक भाव से आत्मा ही भोक्ता है। व्याप्य-व्यापक भाव क्या है ? —जो नियम से सहचारी हो उसे व्याप्ति कहते हैं--जैसे धुआं और अग्नि अर्थात् जहां धुआं होता है वहां अग्नि होती है। ठीक इसी प्रकार रागादि परिणामों में और आत्मा में व्याप्ति है। जहां रागादि परिणाम होते हैं, वहां आत्मा होती ही है, क्योंकि रागादि परिणाम आत्मा में ही होते हैं, आत्मा के विना नहीं होते। इस व्याप्ति क्रिया में जो कर्म है उसे 'व्याप्य' कहते हैं और क्रिया करने वाला आत्मा 'व्यापक' कहलाता है। जहां व्याप्य (कर्म) व्यापक (कर्त्ता) सम्बन्ध हो वहीं कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध संभव है, अन्य स्थान में नहीं। इस प्रकार आत्मा 'कर्त्ता' है और पुद्गल रूप कर्म उसका 'कर्म' है।

भाव्य-भावक भाव क्या है ? —अनुभव करने योग्य भाव को 'भाव्य' और और अनुभव करने वाले को 'भावक' कहते हैं। इस प्रकार कर्मों के उदय में आत्मा जो रागादि परिणाम का अनुभव करता है वह 'भाव्य' है और आत्मा उनका अनुभव करता है इसलिये 'भावक' है। इस प्रकार आत्मा अपने कर्मों का 'भोक्ता' है और कर्म उसके 'भोग्य' हैं।

निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाये तो व्याप्य-व्यापक भाव तथा भाव्य-भावक भाव एक ही पदार्थ में घटित होते हैं, दो भिन्न पदार्थों में नहीं। वास्तव में आत्मा अपने ही परिणामों का कर्त्ता है, पुद्गल कर्म का कर्त्ता नहीं है। आत्मा के परिणाम और पुद्गल के परिणाम में परस्पर निमित्तनैमित्तिकपना तो संभव है, परन्तु परस्पर कर्त्ता-कर्म भाव तो है ही नहीं। पुद्गल कर्म के निमित्त से जो रागादि भाव हुए, उनका कर्त्ता तो आत्मा को अज्ञान दशा में कदाचित् कह सकते हैं, परन्तु आत्मा पुद्गल कर्म का कर्त्ता तो कदापि नहीं है। इसी प्रकार आत्मा अपने ही परिणामों का भोक्ता है, पुद्गल कर्मों का भोक्ता कदापि नहीं है। कहा भी है—

'आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है, निश्चयनय से चेतन कर्मों का कर्त्ता है और शुद्धनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।'

(द्रव्यसंग्रह गा० ८)

'व्यवहारनय से आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म के फल का भोक्ता है और निश्चयनय से अपने चेतन भाव का भोक्ता है।'

(द्रव्यसंग्रह गा० ९)

'निश्चयनय का यह मत है, जो आत्मा है सो आपहीकूं करै है बहुरि आपहीकूं वेदे है, भोगवे है, हे शिष्य, तूं ऐसैं जानि।

(समयसार गा० ८३)

अशुद्ध आत्मा की सिद्धि कब होती है तथा सिद्धि किसे कहते हैं—

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥
॥ १-११-११ ॥

अन्वयार्थ—(**यदा**) जब (**सः**) वह अशुद्धात्मा (**सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं**) सब विभावों से पार होकर (**अचलम्**) अपने अचल (**चैतन्यम्**) चैतन्य स्वरूप को (**आप्नोति**) प्राप्त होता है (**तदा**) तब 'यह आत्मा' उस (**सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम्**) सही ढंग से पुरुषार्थ के प्रयोजन की

सिद्धि को (**आपन्नः**) प्राप्त होता हुआ (**कृतकृत्यः**) कृतकृत्य (**भवति**) होता है।

अर्थ—जब वह अशुद्धात्मा सब विभावों से पार होकर अपने अचल – निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होता है तब 'यह आत्मा' उस सही ढंग से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता हुआ कृतकृत्य (जिसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है) होता है।

विशेषार्थ—इस श्लोक में आचार्यश्री ने पुरुषार्थ की सिद्धि के उपाय का संक्षेप में वर्णन किया है। जब यह अनादि अशुद्धात्मा स्व-पर भेदविज्ञान से (आत्मा तथा आत्मा से भिन्न पदार्थों के सम्यग्ज्ञान से) शरीरादिक परद्रव्यों को अपने से पृथक् जानने लगता है तब उन परद्रव्यों से इष्टानिष्ट की कल्पना का पूर्ण त्याग कर देता है। जब उसे यह दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि 'मेरा भला-बुरा मेरे अपने परिणामों से ही होता है, परद्रव्यों के करने से मेरा भला-बुरा नहीं हो सकता', तब वह आत्मा से भिन्न समस्त परद्रव्यों में राग-द्वेष भावों का त्याग कर देता है। फिर भी यदि किसी अवशता के कारण रागादि अथवा इष्टानिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति होती है तो उसके नाश के लिये वह अनुभव के अभ्यास में सतत प्रयत्नशील रहता है। ऐसा अभ्यास करते-करते जब समस्त विभावों का नाश हो जाता है और अक्षुब्ध समुद्रवत् शुद्धात्म-स्वरूप में लवणवत् लवलीन हो जाता है (जिस प्रकार शान्त समुद्र और लवण लवलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा का अपने शुद्धात्म-स्वरूप में लवलीन हो जाना), तब ध्याता और ध्येय का विकल्प नष्ट हो जाता है, अर्थात् वह ऐसा नहीं जानता कि मैं (ध्याता) शुद्धात्म स्वरूप (ध्येय) का ध्यान कर रहा हूँ। उस समय वह स्वयं ही शुद्धात्म-स्वरूप परिणत हुआ उसी में निष्कम्प विचरण करता है। उस समय आत्मा की कृतकृत्य अवस्था उत्पन्न होती है, क्योंकि उसको जो कुछ करना था सब कर लिया, अब कुछ भी करना शेष नहीं है। इस अवस्था को पुरुषार्थसिद्धि अथवा शुद्धात्मा की सिद्धि कहते हैं।

आत्मा और परद्रव्य (कर्म) के सम्बन्ध का कारण—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥
॥ १-१२-१२ ॥

अन्वयार्थ - (**जीवकृतं**) जीव द्वारा किये हुये (**परिणामं**) रागादि परिणामों का (**निमित्तमात्रं**) निमित्त मात्र (**प्रपद्य**) पाकर (**पुनः**) फिर (**अन्यपुद्गलाः**) जीव से भिन्न जो अन्य पुद्गल स्कन्ध हैं (**अत्र**) वे आत्मा में (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**कर्मभावेन**) ज्ञानावरणादि कर्म रूप (**परिणमन्ते**) परिणमन कर जाते हैं।

अर्थ—जीव द्वारा किये हुये रागादि परिणामों का निमित्तमात्र पाकर, जीव से भिन्न जो अन्य पुद्गल स्कन्ध हैं, वे आत्मा में अपने आप ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं।

विशेषार्थ - जिस समय यह जीव राग-द्वेष-मोह भाव से रागादि भाव रूप परिणमन करता है, उस समय उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल कर्मवर्गणायें स्वयं ही कर्म रूप परिणमन कर जाती हैं। जिस प्रकार खाया हुआ भोजन उदर-अग्नि का निमित्त पाकर स्वयमेव रस-रुधिर आदि सप्त धातु रूप परिणमन कर जाता है, उसी प्रकार पुद्गल कर्मवर्गणाओं में भी ऐसी योग्यता है कि आत्मा के विभाव भावों का निमित्त पाकर वे स्वयमेव ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप परिणमन कर जाती हैं। इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि देव, शास्त्र और गुरु इत्यादि के अनुराग रूप परिणमन करे तो शुभकर्म (पुण्यकर्म) का बन्ध होता है और यदि विपरीत राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन करे तो अशुभकर्म (पाप कर्म) का बन्ध होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि पुद्गल कर्म तो जड़ हैं, उनको जीव के परिणामों का ज्ञान कैसे होता है कि वे पुण्य-पाप रूप स्वयं परिणमन कर जाते हैं? उसका समाधान—जैसे कोई मन्त्र-साधक पुरुष गुप्त स्थान में बैठकर मन्त्र जाप करता है। उस मन्त्र के जाप में ऐसी शक्ति है कि उसके निमित्त से मन्त्र-साधक के कुछ किये विना ही

किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है, किसी का भला होता है, किसी का मरण हो जाता है और किसी को आकुलता इत्यादि होती है। मन्त्र-जाप का निमित्त पाकर चेतन-अचेतन पदार्थ स्वयं ही अनेक अवस्था रूप परिणमन कर जाते हैं। ठीक उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंग में विभाव भाव करता है। उन भावों का निमित्त पाकर, उसके कुछ किये बिना ही कोई पुद्गल पुण्य प्रकृति रूप तथा कोई पाप प्रकृति रूप परिणमन करते हैं, ऐसी ही भावों की शक्ति है। भावों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं ही अनेक रूप परिणमन कर जाता है, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

जीव में विभावभाव उत्पत्ति का निमित्त—

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।
।। १-१३-१३ ।।

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**स्वकैः**) अपने (**चिदात्मकैः**) चैतन्य-स्वरूप (**भावैः**) रागादि परिणामों मे (**स्वयमपि**) अपने आप ही (**परिणममानस्य**) परिणमन करते हुये (**तस्य चितः अपि**) पूर्वोक्त आत्मा के भी (**पौद्गलिकं**) पुद्गल सम्बन्धी (**कर्म**) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (**निमित्तमात्र**) निमित्त मात्र (**भवति**) होता है।

अर्थ—निश्चय ही अपने चैतन्यस्वरूप रागादि परिणामों से अपने आप ही परिणमन करते हुये पूर्वोक्त आत्मा के भी, पुद्गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म निमित्त मात्र होता है।

विशेषार्थ—जीव में रागादि विभाव परिणाम स्वयं होते हैं या उनका कोई निमित्त है? समाधान—इस जीव में रागादि विभाव परिणाम स्वयं अपने आप नहीं होते। यदि रागादि परिणाम स्वयं ही उत्पन्न हों तो वे भी ज्ञान-दर्शन की तरह स्वभावभाव हो जायें, और स्वभाव भाव तो कभी भी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के (Magnet) में लोहे की सुई को अपनी ओर खींचने

की शक्ति है और सुई में चुम्बक की तरफ खिचने की शक्ति है, उसी प्रकार अज्ञान अवस्था में जीव में द्रव्यकर्म के उदय का निमित्त पाकर रागादि रूप परिणमन करने को विभाव शक्ति है और पुद्गल कर्मों में अज्ञानी जीव को रागादि रूप परिणमन कराने की शक्ति है। अतः रागादिक विभाव परिणाम औपाधिक हैं, जो कि जीव की अज्ञान अवस्था में ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। जैसे-जैसे द्रव्यकर्म उदय को प्राप्त होते हैं, वैसे-वैसे आत्मा अपने अज्ञान भाव के कारण विभाव भावों में परिणमन करता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म होते रहते हैं, इसे ही संसार कहते हैं।

पुद्गल कर्मों में ऐसी कौनसी शक्ति है जो चैतन्य आत्मा को रागादि विभावभाव रूप परिणमन कराती है? समाधान—जैसे किसी पुरुष पर मन्त्रपूर्वक धूलि डाली जावे तो वह अपने स्वभाव को भूलकर, मन्त्र से प्रभावित धूलि की शक्ति के कारण नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करने लगता है, इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में रागादि के निमित्त से बँधे हुये पुद्गल कर्मों की शक्ति के कारण आत्मा अपने स्वभावभाव को भूलकर अज्ञान भाव से नाना प्रकार के विभाभावो में परिणमन करता है। कहा भी है—

"अज्ञानी अपने अज्ञानमय भावों की भूमिका में व्याप्त होकर, द्रव्यकर्म के निमित्त भावों के हेतुत्व को प्राप्त होता है अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्त रूप भावों का हेतु होता है।" (समयसारकलश ६८)

संसार का मूल कारण--

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥
॥ १-१४-१४ ॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) इस प्रकार (**अयं**) यह आत्मा (**कर्मकृतैः**) कर्मों द्वारा किये हुये (**भावैः**) रागादि अथवा शरीरादि भावों से

(**असमाहितोऽपि**) संयुक्त न होने पर भी (**बालिशानां**) अज्ञानी जीवों को (**युक्तः इव**) संयुक्त जैसा (**प्रतिभाति**) प्रतिभासित होता है और (**सः प्रतिभासः**) वह प्रतिभास ही (**खलु**) वास्तव में (**भव-बीजम्**) संसार का बीज रूप है।

अर्थ—इस प्रकार यह आत्मा कर्मों द्वारा किये हुये रागादि अथवा शरीरादि भावों में संयुक्त न होने पर भी, अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है, और वह प्रतिभास ही वास्तव में संसार का बीज रूप है।

विशेषार्थ—पूर्व में कहा था कि पुद्गल कर्म के कारणभूत आत्मा के रागादि भाव हैं और रागादि भावों का कारण पुद्गल कर्म है, इसलिये यह आत्मा तो निजशुद्ध स्वभाव की अपेक्षा कर्मजनित नाना प्रकार के भावों से भिन्न चैतन्य मात्र पदार्थ है। जिस प्रकार लाल फूल का निमित्त पाकर स्फटिक लाल रंग का दिखलाई देता है परन्तु वास्तव में वह लाल नहीं है। लाल रंग तो उसमें प्रवेश किये बिना ऊपर ही ऊपर झलकता है। रत्न-परीक्षक इस तथ्य को भली प्रकार जानता है, परन्तु जो रत्नपरीक्षा की कला नहीं जानता, उसे स्फटिक लाल रंग का ही दिखलाई देता है। इसी प्रकार आत्मा पूर्वबद्ध कर्म के निमित्त से रागादि रूप परिणमन करता है, परन्तु वास्तव में रागादिक आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। आत्मा तो अपने निर्मल चैतन्य गुण में ही स्थित है, रागादि भाव तो उसमें प्रवेश किये विना ऊपर ही ऊपर झलकते हैं। इस तथ्य को स्वरूप का परीक्षक ज्ञानी जीव भली प्रकार जानता है, अज्ञानी पुरुष को वास्तव में आत्मा रागादिक रूप ही प्रतिभासित होता है।

शंका—पहले रागादि भावों को जीवकृत कहा था, अब उन्हें कर्म-कृत कैसे कहते हो? समाधान—रागादि भाव जीव में उत्पन्न होते हैं, चेतना रूप हैं, इसलिये उनका कर्त्ता जीव ही है। यहाँ त्रैकालिक स्वभाव का श्रद्धान कराने के लिये जीव के शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा से रागादि भाव कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिये 'उन्हें कर्मकृत

कहा गया है। जैसे किसी पुरुष को भूत लग जाये तो वह भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विपरीत क्रियायें करता है। उन क्रियाओं का कर्त्ता तो वास्तव में वह मनुष्य ही है. परन्तु वे क्रियायें उसका निजभाव नहीं है, इसलिये भूतकृत कही जाती हैं। इसी प्रकार यह जीव कर्मों के निमित्त से अनेक प्रकार के रागादि भाव रूप परिणमन करता है। उन रागादि परिणामों का कर्त्ता तो वास्तव में जीव ही है, परन्तु वे जीव के निजभाव नहीं हैं। इसलिए उन्हें कर्मकृत कहते हैं। कर्मकृत नाना पर्यायें, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव-नारकी-मनुष्य-तिर्यंच शरीर, संहनन, संस्थानादि भेद अथवा पुत्र, मित्र, मकान, धन, धान्यादि समस्त भेदों से शुद्धात्मा प्रत्यक्ष भिन्न ही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अज्ञानी गुरु के कहने से एकान्त झोंपड़ी में बैठकर भैंसे का ध्यान करे और अपने को भैंसे के समान विशाल शरीर तथा बड़े सींगों वाला मानकर, यह सोचने लगे कि झोंपड़ी से बाहर कैसे निकलूंगा। यदि वह अपने को भैंसे के समान न माने तो वह मनुष्य रूप तो है ही। इसी प्रकार यह जीव मोह के कारण अपने को वर्णादिक रूप मानकर देवादि पर्यायों को अपना मानता है। यदि ऐसा न माने तो वह शुद्ध अमूर्तिक रूप तो स्वय है ही।

इस प्रकार यह आत्मा कर्मजनित रागादिक तथा वर्णादिक भावों से सदा काल भिन्न है। कहा भी है—'जो वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक भाव हैं, वे सब ही इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं।' (समयसार कलश-३७)। अज्ञानी जीवों को आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त ही प्रतिभासित होता है। निश्चय ही यह प्रतिभास ही संसार का बीज है अर्थात् कर्मजनित भावों को अपना मानना ही अनन्त संसार का कारण है।

पुरुषार्थसिद्धि का उपाय—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥

॥ १-१५-१५ ॥

अन्वयार्थ—(**विपरीताभिनिवेशं**) विपरीत श्रद्धान का (**निरस्य**) नाश करके (**निजतत्त्वम्**) निजस्वरूप को (**सम्यक्**) यथार्थ रूप से (**व्यवस्य**) जानकर (**यत्**) जो (**तस्मात्**) अपने उस स्वरूप में से (**अविचलनं**) भ्रष्ट न होना (**स एव**) वही (**अयम्**) इस (**पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायः**) पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

अर्थ –विपरीत श्रद्धान का नाश करके, निजस्वरूप को यथार्थ-रूप से जानकर, जो अपने उस स्वरूप से भ्रष्ट न होना है, वही इस पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक में कहा था कि कर्मजनित पर्यायों तथा भावों को अपने रूप मानना ही संसार का मूल कारण है। यही मान्यता अथवा श्रद्धान विपरीत श्रद्धान है। ऐसी विपरीत मान्यता का जड़-मूल से विनाश करना सम्यग्दर्शन है। कर्मजनित पर्यायों तथा भावों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मजनित पर्यायों तथा भावों से उदासीन होकर अपने शुद्धस्वरूप में निश्चल-निष्कम्प रूप से स्थिर रहना, उससे कभी भी न छूटना सम्यक्चारित्र है। अथवा समस्त पदार्थों से भिन्न अपने शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान ही सम्यग्-ज्ञान है तथा उसी शुद्धात्मस्वारूप में निमग्न—लीन होना सम्यक्-चारित्र है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणत जो आत्मा है वह निश्चय मोक्षमार्ग है। इन तीनों का समुदाय—एकरूपता ही पुरुषार्थसिद्धि अथवा आत्मस्वरूप की सिद्धि होने का उपाय है। अन्य कोई उपाय नहीं है।

जो इस उपाय में लगे हुए हैं उनका वर्णन—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः॥
॥ १-१६-१६ ॥

अन्वयार्थ—(**एतत् पदम् अनुसरतां**) इस रत्नत्रय रूप पदवी का अनुसरण करने वाले (**मुनीनाम्**) मुनियों का (**वृत्ति**) आचरण/

परिणमन (**करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा**) पाप क्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा विमुख तथा (**एकान्तविरतिरूपा**) परद्रव्यों से सर्वथा उदासीन रूप और (**अलौकिकी**) अलौकिक — लोक से निराला (**भवति**) होता है।

अर्थ—इस रत्नत्रय रूप पद का अनुसरण करने वाले अर्थात् इस पद को प्राप्त मुनियों का आचरण/परिणमन, पापक्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा विमुख तथा परद्रव्यों से सर्वथा उदासीन रूप और अलौकिक—लोक से निराला भिन्न होता है।

विशेषार्थ— रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाले मुनिराजों का आचरण गृहस्थ लोगों से सर्वथा निराला और भिन्न होता है। गृहस्थ पापक्रिया में आसक्त होते हैं अथवा उनका आचार पापक्रिया मिश्रित होता है। मुनिराज ऐसी क्रियाओं का चिन्तन भी नहीं करते तथा उनका आचरण कर्मजनित भावों से सर्वथा विमुख होता है। लोग शरीर के पोषण के अनेक उपाय करते हैं तथा उसकी खूब संभाल रखते हैं; परन्तु मुनिराज अनेक प्रकार से शारीरिक परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करने में सुख मानते हैं। लोग इन्द्रिय विषयों में अति आसक्त होकर उनके भोगों में सुख मानते हैं, परन्तु मुनिराज उन्हें विष के समान मानते हैं। लोगों को जनसमुदाय—भीड़ तथा बस्ती अच्छी लगती है, परन्तु मुनिराज जनसंपर्क से खेद मानते हैं तथा निर्जन स्थान में वास करते हैं। इस प्रकार रत्नत्रय के धारक मुनिराज तो समस्त परद्रव्यों से सर्वथा उदासीन हुये निज-स्वरूप का ही अनुभव करते हैं। उनकी प्रत्येक क्रिया गृहस्थों से निराली होती है।

उपदेश देने का क्रम—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन॥
॥ १-१७-१७ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो जीव (बहुशः) बारम्बार (प्रदर्शितां) बताने पर भी (समस्तविरतिं) सकलचारित्र—मुनि के महाव्रतों को (जातु) कदाचित् (न गृह्णाति) ग्रहण नहीं करता है तो (तस्य) उसे (एकदेशविरतिः) एकदेश चारित्र—श्रावक के अणुव्रतों का (अनेन बीजेन) इस हेतु से (कथनीया) कथन करना अर्थात् समझाना चाहिये।

अर्थ—जो जीव बारम्बार बताने पर भी सकल चारित्र—मुनि के महाव्रतों को कदाचित् ग्रहण नहीं करता है तो उसे एकदेश चारित्र—श्रावक के अणुव्रतों का इस हेतु से कथन करना चाहिये अर्थात् समझाना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोक में धर्म उपदेश देने का क्रम बताया है। जो जीव उपदेश सुनने की रुचि रखता है, उसे सबसे पहले मुनिधर्म का बार-बार उपदेश देना चाहिये। बार-बार उपदेश सुनकर भी भी यदि वह सकल चारित्र—सकलपाप रहित मुनि के महाव्रतों को ग्रहण न करे तो उसे एकदेश चारित्र—पापरहित श्रावक के व्रतों का उपदेश देना चाहिये।

विपरीत क्रम से उपदेश देने की निन्दा—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥
॥ १-१८-१८ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (अल्पमतिः) तुच्छबुद्धि उपदेशक (यतिधर्मम्) मुनिधर्म का (अकथयन्) कथन न करके (गृहस्थधर्मम्) गृहस्थ / श्रावक धर्म का (उपदिशति) उपदेश देता है (तस्य) उस उपदेशक को (भगवत्प्रवचने) भगवान् के सिद्धान्त में (निग्रहस्थानम्) दण्ड देने का स्थान बताया है।

अर्थ—जो तुच्छबुद्धि उपदेशक मुनिधर्म का कथन न करके, गृहस्थ / श्रावक धर्म का उपदेश देता है, उस उपदेशक को भगवान्

के सिद्धान्त में दण्ड देने का स्थान बताया है अर्थात् वह उपदेशक दण्ड पाने योग्य है।

विशेषार्थ—जो तुच्छबुद्धि उपदेशक पिछले श्लोक में बताये गये उपदेश के क्रम का अनुसरण न करके अर्थात् पहले मुनिधर्म का उपदेश न करके, सर्वप्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश देता है तो वह भगवान् के सिद्धान्त के अनुसार प्रायश्चित्त रूप दण्ड पाने योग्य है।

वह उपदेशक दण्ड पाने योग्य क्यों है—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥
॥ १-१६-१६ ॥

अन्वयार्थ—(**यतः**) क्योंकि (**तेन**) उस (**दुर्मतिना**) दुर्बुद्धि के (**अक्रमकथनेन**) अक्रम कथन—उपदेश से (**अतिदूरम्**) अति अधिक (**प्रोत्सहमानोऽपि**) उत्साह वाला होने पर भी (**शिष्यः**) शिष्य (**अपदेऽपि**) तुच्छ स्थान में हो (**सम्प्रतृप्तः**) सन्तुष्ट होकर (**प्रतारितः भवति**) ठगाया जाता है।

अर्थ क्योंकि उस दुर्बुद्धि के अक्रम कथन—अक्रम उपदेश से अति अधिक उत्साह वाला होने पर भी, शिष्य तुच्छ स्थान में ही सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है।

विशेषार्थ—उपदेश का क्रम भंग करने वाला दण्ड का भागी क्यों है?—किसी शिष्य के अन्तरंग में धर्म के प्रति अति उत्साह और उमंग था। यदि प्रथम ही वह मुनिधर्म का उपदेश सुनता, तो हो सकता है कि वह सकलचारित्र मुनि के महाव्रतों को ही अंगीकार कर लेता। परन्तु मन्दबुद्धि उपदेशक ने सर्वप्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश दिया, जिससे वह शिष्य ठगा गया, अर्थात् उपदेश को सुनकर शिष्य ने उत्तम मुनिधर्म की बजाय तुच्छ श्रावकधर्म को ही श्रेष्ठ मानकर अंगीकार कर लिया। इस कारण उपदेशक प्रायश्चित्त दण्ड का भागी है।

पहला उत्थानिका अधिकार समाप्त हुआ।

(२) श्रावकधर्म अधिकार

श्रावक को धर्मसाधन में क्या करना चाहिये—

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति॥
॥ २-१-२० ॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**तस्यापि**) उस गृहस्थ को भी (**यथाशक्ति**) अपनी शक्ति के अनुसार (**सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीन भेदरूप (**मोक्षमार्गः**) मोक्षमार्ग (**नित्यम्**) सदा (**निषेव्यः**) सेवन करने योग्य (**भवति**) है।

अर्थ—इस प्रकार उस गृहस्थ को भी अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीन भेदरूप मोक्षमार्ग का सदा सेवन करने योग्य है।

विशेषार्थ—मुनिधर्म को धारण करके तो मोक्षमार्ग का सेवन सम्पूर्ण रूप से होता है। परन्तु हर व्यक्ति में तो मुनिधर्म पालन करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती, इसलिये गृहस्थ को भी अपनी शक्ति के अनुसार मोक्षमार्ग का सेवन अवश्य करना चाहिये; क्योंकि इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं जिससे मुक्ति का मार्ग—कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके। वह मोक्षमार्ग कैसा है—'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों का समुदाय—एकरूपता ही भव्यजीवों के लिये मोक्ष का मार्ग है। भिन्न-भिन्न तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं। मोक्षमार्ग तो एक ही है। रत्नत्रय में से एक अथवा दो से मोक्षमार्ग नहीं सधता। तीनों की एकरूपता ही एकमात्र मोक्षमार्ग है। जिस प्रकार औषध के श्रद्धान,

यथार्थ ज्ञान तथा विधिपूर्वक सेवन से ही रोग का नाश होता है, उसी प्रकार रत्नत्रय की एकरूपता से मोक्षमार्ग बनता है। गृहस्थ को अपने कल्याण के लिए इनका सेवन करना चाहिये। श्रावकधर्म पालन से मुनिधर्म-पालन का अभ्यास होता है।

तीनों में प्रथम किस को ग्रहण करना चाहिये—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥
॥ २-२-२१ ॥

अन्वयार्थ—(**तत्रादौ**) इन तीनों में प्रथम (**अखिलयत्नेन**) समस्त यत्नपूर्वक । सावधानीपूर्वक (**सम्यक्त्वं**) सम्यग्दर्शन को (**समुपाश्रयणीयम्**) सही प्रकार अंगीकार करना चाहिये (**यतः**) क्योंकि (**तस्मिन् सति एव**) उसके होने पर ही (**ज्ञानं**) सम्यग्ज्ञान (**च**) और (**चरित्रं**) सम्यक्चारित्र (**भवित**) होता है।

अर्थ—इन तीनों में प्रथम समस्त यत्नपूर्वक / सावधानीपूर्वक सम्यग्दर्शन को सही प्रकार अंगीकार करना चाहिये, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र में से प्रथम किसको ग्रहण करना चाहिये ? इन तीनों में से प्रथम ही, जिस प्रकार भी बन सके सम्यग्दर्शन का ग्रहण करना चाहिये। आचार्यश्री कहते हैं कि यदि सम्यग्दर्शन ग्रहण करने के प्रयास में मृत्यु भी हो जाये तो भी इसे प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि इसके बिना मोक्षमार्ग बन नहीं सकता। सर्वप्रथम ही सम्यग्दर्शन को क्यों प्राप्त करना चाहिये ?—क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की संज्ञा पाते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना जीव अज्ञानी और असंयमी ही कहलाता है। सम्यग्दर्शन के विना ग्यारह अंग का पाठी भी अज्ञानी ही कहलाता है। महाव्रतों का पालन करके, विशुद्ध परिणामों द्वारा नवग्रैवेयक

तक जाता है फिर भी असंयमी ही कहलाता है। सम्यग्दर्शन सहित थोड़ा सा ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान और थोड़ासा त्याग भी सम्यक्चारित्र है। इसलिये सर्वप्रथम ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, संसार-सागर से पार लगाने के लिये यही एक मात्र खेवटिया है।

सम्यक्त्व का लक्षण—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्॥
॥ २-३-२२ ॥

अन्वयार्थ (**जीवाजीवादीनां**) जीव, अजीव आदि (**तत्त्वार्थानां**) तत्त्वार्थों का (**विपरीताभिनिवेशविविक्तम्**) विपरीत अभिनिवेश रहित (**श्रद्धानं**) श्रद्धान (**सदैव**) निरन्तर ही (**कर्त्तव्यम्**) करना चाहिये, क्योंकि (**तत्**) वह श्रद्धान ही (**आत्मरूपं**) आत्मा का स्वरूप है।

अर्थ—जीव, अजीव आदि तत्त्वार्थों का विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान निरन्तर ही करना चाहिये, क्योंकि वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है।

विशेषार्थ—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दशनम्"—तत्त्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थों का अर्थात् पदार्थों का जैसा निजभाव—स्वरूप है, उसका विपरीताभिनिवेश—संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय (अनिर्णयात्मक) रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। पदार्थ का स्वरूप 'ऐसा ही है, यही है, अन्य नहीं, अन्य प्रकार नहीं, कम नहीं और ज्यादा भी नहीं'—ऐसा गाढ़ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। 'भूतार्थनय से ज्ञात (जाने हुए) जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।' (समयसार गा० १३) अथवा 'सम्यग्दृष्टिजीव निःशंक होते हैं, इसलिये निर्भय होते हैं; और क्योंकि वे सप्त भयों से रहित होते हैं, इसलिये निःशंक होते हैं।' (समयसार गा० २२८) ऐसा श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है, निजभाव है।

तत्त्वार्थ-श्रद्धान दो प्रकार का है—एक सामान्यरूप तथा दूसरा विशेषरूप। समस्त परभावों से अलग अपने चैतन्य शुद्धस्वरूप का आपरूप से श्रद्धान करना सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान है, जोकि चारों गतियों के सम्यग्दृष्टि जीवों को होता है। जीव, अजीवादि सात तत्त्वों को भेदों को जानकर उनका श्रद्धान करना विशेष तत्त्वार्थ श्रद्धान है जो कि केवल मनुष्य तथा देवादि विशेष ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों को होता है। तत्त्वों जाने विना सम्यक्श्रद्धान नहीं हो सकता, क्योंकि जो तत्त्वों को न जाने तो श्रद्धान किसका करे? इसलिये उनका थोड़ा सा संक्षेप स्वरूप दिया जाता है—

(१) 'जीव तत्त्व'—'चेतनालक्षणो जीवः'—जीव का लक्षण चेतना है। अर्थात् जो चेतना सहित है उसे जीव कहते हैं। शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र के भेद से जीव तीन प्रकार हैं—

(i) 'शुद्धजीव'—जिन जीवों के सर्व गुण और पर्याय अपने निज-शुद्ध रूप परिणमन करते हैं अर्थात् जो केवलज्ञानादि शुद्ध गुण और पर्याय रूप परिणमन में स्थित हैं उन्हें शुद्ध जीव कहते हैं। जैसे अरहन्त और सिद्ध। यहाँ गुण और पर्याय दोनों शुद्ध हैं।

(ii) 'अशुद्ध जीव'—जिन जीवों के सर्व गुण और पर्याय विकार भाव रूप परिणमन कर रहे हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव जिनकी परि-णति राग-द्वेषरूप—विपरीत परिणमन कर रही है, वे जीव अशुद्ध हैं।

(iii) 'मिश्रजीव'—जिन जीवों में सम्यक्त्व तथा ज्ञानादि गुणों की कुछ शक्ति शुद्ध है तथा शेष अभी अशुद्ध है अर्थात् जिनकी परिणति शुद्धाशुद्ध रूप परिणमन कर रही है वे मिश्र जीव हैं।

(२) 'अजीवतत्त्व'—जो पदार्थ चेतना गुण रहित है, जड़ है उसे अजीव तत्त्व कहते हैं। वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल के भेद से पाँच प्रकार का है।

(i) 'पुद्गल'—जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण संयुक्त है वह पुद्गल है। 'अणु' तथा 'स्कन्ध' के भेद से पुद्गल दो प्रकार का है। 'अणु' एकप्रदेशी है उसका भाग नहीं किया जा सकता। पुद्गल द्रव्य मूल

में अणुरूप है और इन्द्रियातीत है। अनेक अणु मिलकर 'स्कन्ध' बनता है। जो कुछ भी देखने में अथवा इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आता है वह पुद्गल की पर्याय है, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त अणुओं का स्कन्ध/पिंड है।

(ii) 'धर्मद्रव्य'—निष्क्रिय (गति रहित) लाकप्रमाण द्रव्य है। गतिशील जीव और पुद्गल द्रव्यों को गति करने में उदासीन बाह्य निमित्त है। गति-स्थिति करना तो जीव की निज अन्तरंग शक्ति है।

(iii) 'अधर्मद्रव्य'—यह भी निष्क्रिय लोकप्रमाण द्रव्य है। गति-पूर्वक स्थिति करने में जीव और पुद्गल द्रव्यों को बाह्य उदासीन निमित्त है।

(iv) 'आकाश'—जो जीव पुद्गलादि समस्त द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने में समर्थ है वह लोकालोक प्रमाण आकाश है। वह लोकाकाश तथा अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का है, परन्तु सत्तारूप एक ही द्रव्य है। जिसमें समस्त छह द्रव्यों का वास है वह 'लोकाकाश' है तथा शेष 'अलोकाकाश' है। लोकाकाश आकाश के ठीक बोचोंबीच स्थित है।

(v) 'कालद्रव्य'—निश्चय और व्यवहार के भेद से काल दो प्रकार का है। अपने उपादान रूप से स्वयमेव परिणमित पदार्थों की परिणति में जो सहकारीपना है उसे 'वर्तना' कहते हैं। यह वर्तना लक्षण युक्त निश्चय काल है। समय, घड़ी, घंटा, मिनट इत्यादि व्यवहार काल हैं।

(३) 'आस्रव तत्त्व'--मन, वचन, काय के योगों द्वारा जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से कर्मरूपी पुद्गल वर्गणाओं के आने को 'आस्रव' कहते हैं। पापास्रव तथा पुण्यास्रव इसके दो भेद हैं। शुभ परिणामों से पुण्य कर्मों का तथा अशुभ परिणामों से पाप कर्मों का आस्रव होता है।

(४) 'बन्ध तत्त्व'--जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से आई हुई कर्मरूपी वर्गणाओं का ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप से आत्म प्रदेशों के साथ एकक्षेत्र में स्थित होना बन्ध तत्त्व है।

(५) 'संवर तत्त्व'—जीव के शुभाशुभ परिणामों के अभाव से नवीन कर्म वर्गणाओं के आस्रव का रुकना संवर तत्त्व है।

(६) 'निर्जरा तत्त्व'—जीव में बँधे हुये कर्मों का समय-समय पर एकदेश खिरना निर्जरा तत्त्व है। परन्तु जीव के शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बँधे हुये कर्मों को संवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है।

(७) 'मोक्ष तत्त्व'—कर्मों के सर्वथा नाश होने पर जीव के निजशुद्ध भाव के प्रकट होने को मोक्ष कहते हैं। यही शुद्धजीव है।

इस प्रकार तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय विषय-कषायों में तीव्रतारूप परिणमन करता है तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है ? समाधान जीव के भाव दो प्रकार के हैं—एक श्रद्धान रूप और दूसरा परिणमन रूप। श्रद्धान रूप तो सम्यक्त्व का लक्षण है तथा परिणमन रूप चारित्र का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि जीव विषय-कषाय में परिणमन करता है परन्तु श्रद्धान में प्रतीति यथावत् रहती है। जिस प्रकार कोई मुनीम सेठ का काम करता है। वह बाह्य में सेठ के प्रत्येक कार्य नफा-नुकसान, दुकान-व्यापार आदि को 'मेरा-मेरा' कहता है। नफे-नुकसान में हर्ष-विषाद भी करता है, परन्तु अन्तरंग में तो ऐसी दृढ़ प्रतीति है कि यह कुछ मेरा नहीं है। मैं इन सबसे भिन्न हूँ, ये मेरे नहीं हैं। मैं तो नोकर हूँ। अपनी पराधीनता को दुःख-दायक मानता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव की भी अंतरंग में ऐसी प्रतीति रहती है कि यह विषय-कषाय कर्मों की पराधीनता है, वास्तव में मेरा स्वरूप तो इन सबसे भिन्न है। बाह्य पदार्थों को 'मेरा-मेरा' भी कहता है, इष्ट-अनिष्ट में हर्ष-विषाद भी करता है परन्तु अन्तरंग प्रतीति शक्ति रूप से यथावत् विद्यमान रहती है।

द्रव्यलिंगी मुनि जिन-कथित तत्त्वों को ही मानता है, अन्यमत के तत्त्वों को बिलकुल नहीं मानता, फिर भी उसे तत्त्व का श्रद्धान कैसे नही ? समाधान—द्रव्यलिंगी मुनि मानता तो जिन-कथित तत्त्वों को ही है, परन्तु विपरीताभिनिवेश-सहित मानता है। आस्रव-बन्ध रूप

शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को अपना मानकर संवर-निर्जरा रूप मोक्ष का कारण मानता है। पाप से तो विरक्त है, परन्तु पुण्य को उपादेय मानता है। इसलिये उसे सच्चा तत्त्वश्रद्धान नहीं है।

आगे सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन करते हैं---

निःशंकित अंग का वर्णन—

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या॥
॥ २-४-२३ ॥

अन्वयार्थ—(**अखिलज्ञैः**) सर्वज्ञ देव द्वारा (**इदम्**) यह (**सकलम्**) सारा (**वस्तुजातम्**) वस्तु-समूह—जीवादि पदार्थों का समूह (**अनेकान्तात्मकम्**) अनेकान्त स्वभावरूप (**उक्तं**) कहा गया है, वह (**किमु सत्यम्**) क्या सत्य है (**असत्यं वा**) अथवा असत्य है? (**शंकेति**) ऐसी शंका (**जातु**) कभी भी (**न**) नहीं (**कर्त्तव्या**) करनी चाहिये।

अर्थ—सर्वज्ञदेव द्वारा यह सारा वस्तु-समूह अर्थात् जीवादि पदार्थों का समूह अनेकान्त स्वभाव रूप कहा गया है, वह क्या सत्य है अथवा असत्य है?—ऐसी शंका कभी नहीं करनी चाहिये।

विशेषार्थ वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ने जीवादि पदार्थों का स्वरूप अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाव वाला कहा है। उस स्वरूप का श्रद्धान दृढ़ और निर्णयात्मक होना चाहिये। तत्त्वार्थ-श्रद्धान इतना दृढ़ और निश्चयात्मक होना चाहिये कि आपत्ति-विपत्ति में भी उसमें शंका- संशय उत्पन्न नहीं करना चाहिये। जिनेन्द्र भगवान् का कथन अन्यथा नहीं हो सकता। मोह, राग, द्वेष के कारण जीव अन्यथा कथन करता है, परन्तु भगवान् तो सर्वथा वीतराग हैं, अतः उनके अन्यथा कथन करने का प्रसंग ही नहीं उठता। इस प्रकार भगवान् के वचनों में किसी भी प्रकार की शंका न करना निःशंकित अंग है। कहा भी है—

"तत्त्वों का सच्चा स्वरूप 'यही है', 'ऐसा ही है', 'अन्य नहीं है', 'अन्य प्रकार नहीं है'—इस प्रकार तलवार पर रखे हुये पानी के

समान सन्मार्ग—समीचीन मोक्षमार्ग में अटल श्रद्धा न रखना ही निःशंकित अंग है।" (रत्नकरण्ड श्रा०-१६)

निश्चयनय की अपेक्षा तो—

"जो आत्मा कर्मबन्ध सम्बन्धी मोह करने वाले मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पदों (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग) को छेद देता है उसको निःशंकसम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"

(समयसार-२२६)

निःकांक्षित अंग का वर्णन -

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्॥
॥ २-५-२४ ॥

अन्वयार्थ —(**इह**) इस (**जन्मनि**) लोक में (**विभवादीनि**) ऐश्वर्य, सम्पदा आदि (**अमुत्र**) परलोक में (**चक्रित्वकेशवत्वादीन्**) चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों को (**च**) और (**एकान्तवाददूषित-परसमयान्**) एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को (**अपि**) भी (**न आकांक्षेत्**) न चाहे।

अर्थ—इस लोक में धन-सम्पदा आदि, परलोक में चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों को और एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को भी न चाहे।

विशेषार्थ—निःकांक्षित का अर्थ है वांछा—अभिलाषा रहित होना। सम्यग्दृष्टि जीव इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल को नहीं चाहता है। इस जन्म में ऐश्वर्य, धन-सम्पदा इत्यादि तथा स्त्री-पुत्रादिक की अभिलाषा नहीं करता तथा परलोक में चक्रवर्ती, इन्द्र तथा नारायण आदि पद की इच्छा नहीं करता। वह जानता है कि ये सब कर्माधीन हैं, अन्तसहित अनित्य हैं। पुण्य के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को आकुलता तथा दुःख रूप ही मानता है। एकान्तवाद के कारण दूषित जो अन्य मत हैं, उन्हें भला नहीं

मानता, इसलिये उनकी भी इच्छा नहीं करता। उसका लक्ष्य तो मोक्ष का अविनाशी सुख ही है। सांसारिक सुखों, इन्द्रिय विषय-भोगों इत्यादि से विरक्त होना सम्यग्दृष्टि का निःकांक्षित अंग है। कहा भी है—

"जो आत्मा कर्मों के फलों के प्रति तथा सर्व धर्मों के प्रति (पाप-पुण्य रूप वस्तु के स्वभाव के प्रति) कांक्षा नहीं रखता, उसको निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।" (समयसार-२३०)

निर्विचिकित्सा अंग का वर्णन—

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया॥
॥ २-६-२५ ॥

अन्वयार्थ—(**क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु**) भूख, प्यास, सर्दी, गरमी इत्यादि (**नानाविधेषु**) अनेक प्रकार के (**भावेषु**) भावों में और (**पुरीषादिषु**) विष्ठा आदि (**द्रव्येषु**) पदार्थों में (**विचिकित्सा**) ग्लानि (**नैव**) नहीं (**करणीया**) करनी चाहिये।

अर्थ—भूख, प्यास, गरमी, सर्दी इत्यादि अनेक प्रकार के भावों—पर्यायों में और विष्ठा आदि पदार्थों में ग्लानि/नफरत नहीं करनी चाहिये।

विशेषार्थ निर्विचिकित्सा का अर्थ है ग्लानि/घृणा रहित होना। जिस शरीर में आत्मा निवास करती है वह स्वभाव से ही अपवित्र है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के परिणमनशील यथार्थ स्वरूप को जानता है, इसलिये पाप के उदय से दीन, हीन, दुःखी, रोगी तथा मलिन शरीर रूप भावों (पर्यायों) के संयोग होने पर उनसे घृणा नहीं करता, क्योंकि कर्म के उदय के अधीन कार्य पर अपना वश नहीं है और इससे अपने अमूर्तिक आत्मा का घात भी नहीं होता। भूख, प्यास आदि में अथवा विष्ठा आदि निन्द्य पदार्थों में ग्लानि नहीं करता। वस्तु के परिणमनशील स्वभाव को समझते हुए द्रव्य की

किसी भी पर्याय में ग्लानि न करना सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अंग है। कहा भी है—

"जो आत्मा सभी धर्मों (वस्तु के स्वभावों) के प्रति ग्लानि नहीं करता, उसको निश्चय से निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"
(समयसार-२३१)

अमूढ़दृष्टि अंग का वर्णन--

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ।।
।। २-७-२६ ।।

अन्वयार्थ—(**तत्त्वरुचिना**) तत्त्वों में रुचि रखने वाले जीव को (**नित्यमपि**) सदा ही (**लोके**) लोक में (**शास्त्राभासे**) शास्त्राभास में (**समयाभासे**) धर्माभास में (**च**) और (**देवताभासे**) देवाभास में (**अमूढदृष्टित्वम्**) मूढ़ता रहित श्रद्धान (**कर्त्तव्यम्**) करना चाहिये।

अर्थ—तत्त्वों में रुचि रखने वाले जीव को सदा ही लोक में, शास्त्राभास में, धर्माभास में और देवाभास में मूढ़ता रहित श्रद्धान करना चाहिये।

विशेषार्थ—'दृष्टि' शब्द का अर्थ श्रद्धान है। मूर्खता रहित अथवा विवेकपूर्ण श्रद्धान को 'अमूढ़दृष्टि' कहते हैं। तत्त्वार्थ श्रद्धावान् पुरुष को सदा ही अमूढ़दृष्टि रहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव को देखा-देखी कोई भी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। लोक में किसी चमत्कार, मणि, मंत्र, तंत्र तथा अतिशय इत्यादि को देखकर विपरीत भावों को ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्य वादियों के कपोलकल्पित शास्त्रों में रुचि नहीं करनी चाहिये। झूठे मत सच्चे सरीखे भासते हों अथवा झूठे देव सुदेव जैसे मालूम हों तो उनके धोखे में नहीं आना चाहिये। यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट करने वाले कारणों से सदा सावधान रहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव गुण-दोषों का पारखी होने के कारण मन, वचन, काय, मूढ़दृष्टिपने से दूर रहता है, यही अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है। निश्चयनय की अपेक्षा तो—

"जो आत्मा समस्त भावों में अमूढ़ है—यथार्थ दृष्टि वाला है, उसको निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"

(समयसार-२३२)

उपगूहन अंग का वर्णन—

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥
॥ २-८-२७ ॥

अन्वयार्थ—(**उपबृंहणगुणार्थम्**) उपबृंहण नामक गुण के लिए (**मार्दवादिभावनया**) मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से (**सदा**) प्रतिक्षण (**आत्मनो धर्मः**) आत्मधर्म की (**अभिवर्द्धनीयः**) वृद्धि करनी चाहिए और (**परदोषनिगूहनमपि**) दूसरे के दोषों को गुप्त रखना भी (**विधेयम्**) कर्त्तव्य है।

अर्थ—उपबृंहण नामक गुण के लिए मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से प्रतिक्षण आत्मधर्म की अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वभाव की वृद्धि करनी चाहिए और दूसरे के दोषों को गुप्त रखना भी कर्त्तव्य है।

विशेषार्थ—'उपबृंहण' का अर्थ है बढ़ाना। सम्यग्दृष्टि जीवों को क्षमा, मार्दव, सन्तोषादि धर्म भावनाओं के चिन्तन के द्वारा सतत अपने आत्मा के निजशुद्ध स्वभाव को बढ़ाना चाहिए। 'उपगूहन' का अर्थ है छुपाना। दूसरे के ज्ञात-अज्ञात दोषों को छुपाना उपगूहन कहलाता है। बाल्यावस्था अथवा रोग के कारण, या मूढ़ और असमर्थजन व्रतों के पालन में कदाचित् दोष लगाते हैं। ऐसे दोषों को प्रकट नहीं करना चाहिये क्योंकि इनसे उस व्यक्ति की तथा धर्म की मानहानि होती है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा के निजशुद्ध स्वभाव को निरन्तर बढ़ाता है तथा दूसरे के दोषों को प्रकट नहीं करता यही उसका उपगूहन अंग है। कहा भी है—

"जो आत्मा सिद्धों की अर्थात् शुद्धात्मा की भक्ति से युक्त है और पर वस्तुओं के सर्व धर्मों को गोपने वाला है (रागादि परभावों

से निजात्मा की रक्षा करता है, उसे छुपाता है) उसको उपगूहन करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।" (समयसार-२३३)

स्थितिकरण अंग का वर्णन—

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ।।

।। २-६-२८ ।।

अन्वयार्थ—(**कामक्रोधमदादिषु**) काम, क्रोध, मद आदि विकार (**न्यायात् वर्त्मनः**) न्याय मार्ग से (**चलयितुम्**) चलायमान करने के लिये (**उदितेषु**) प्रकट हुए हों तब (**श्रुतम्**) शास्त्र अनुसार (**आत्मनः परस्य च**) अपने को और पर को (**युक्त्या**) युक्तिपूर्वक (**स्थितिकरणमपि**) धर्म में स्थापित भी (**कार्यम्**) करना चाहिये।

अर्थ—काम, क्रोध, मद आदि विकार न्यायमार्ग धर्म मार्ग से चलायमान करने के लिये प्रकट हुए हों, तब शास्त्र अनुसार अपने को और पर को युक्तिपूर्वक धर्म में स्थापित भी करना चाहिये।

विशेषार्थ—काम, क्रोध, मान, माया और लोभादिक कषाय रूप भावों की उत्पत्ति धर्म मार्ग से भ्रष्ट करने वाली है। अपने अथवा अन्य किसी सहधर्मी भाई के परिणाम यदि उपर्युक्त उपाधियों के अथवा किसी अन्य रोगादि के कारण से सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्-चारित्र से भ्रष्ट होते हों तो जैसे भी संभव हो, उनकी हर प्रकार से यथाशक्ति सहायता करके शास्त्र अनुसार तथा युक्तिपूर्वक पुनः धर्म मार्ग में स्थापित करना चाहिये। धर्म से भ्रष्ट जीवों को पुनः धर्म मार्ग में स्थापित करना सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अंग है। कहा भी है—

"जो आत्मा उन्मार्ग में जाते हुये अपने आत्मा को भी मार्ग में स्थापित करता है वह स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।" (समयसार-२३४)

वात्सल्य अंग का वर्णन- -

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥
॥ २-१०-२९ ॥

अन्वयार्थ — (**शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने**) मोक्षसुख रूप सम्पदा के कारणभूत (**अहिंसायां**) अहिंसामय (**धर्मे**) धर्म में (**च**) और (**सर्वेष्वपि**) सभी (**सधर्मिषु**) साधर्मी जनों में (**अनवरतम्**) निरन्तर (**परमं**) उत्कृष्ट (**वात्सल्यम्**) वात्सल्य/प्रीति को (**आलम्ब्यम्**) अंगीकार करना चाहिये।

अर्थ—मोक्षसुख रूप सम्पदा के कारणभूत अहिंसामय धर्म में और सभी साधर्मी जनों में निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य/प्रीति को अंगीकार करना चाहिये।

विशेषार्थ—गोवत्स जैसी प्रीति को वात्सल्य कहते हैं। गाय को अपने बछड़े से अत्यन्त निष्काम प्रेम होता है और उसकी रक्षा के लिये वह अपने प्राण भी जोखिम में डाल देती है। ऐसी ही गोवत्स प्रीति/वात्सल्य सम्यग्दृष्टि जीव को अपने जिनप्रणीत अहिंसामय धर्म में सभी रत्नत्रयधारी साधुओं तथा सहधर्मी भाइयों में तथा धर्मायतनों इत्यादि में स्वभावतः निरन्तर रखना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव तन, मन, धन इत्यादि से संकट में उनके काम आता है तथा इसमें आनन्द का अनुभव करता है। यही सम्यक्त्व का वात्सल्य अंग है। निश्चयनय से तो—

"जो आत्मा मोक्षमार्ग के तीन साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में वात्सल्य रखता है, उसे वात्सल्य से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।" (समयसार-२३५)

प्रभावना अंग का वर्णन—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥
॥ २-११-३० ॥

अन्वयार्थ—(**रत्नत्रयतेजसा**) रत्नत्रय के तेज से (**सततमेव**) निरन्तर (**आत्मा**) अपनी आत्मा को (**च**) और (**दानतपोजिनपूजा-विद्यातिशयैः**) दान, तप, जिनपूजन और विद्या की वृद्धि करके (**जिनधर्मः**) जिनधर्म की (**प्रभावनीयः**) प्रभावना करनी चाहिये।

अर्थ रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को (प्रकाशित करना चाहिये) और दान, तप, जिनपूजन की और विद्या को वृद्धि करके जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये अर्थात् जैन धर्म के यश और महिमा का प्रकाश करना चाहिये।

विशेषार्थ- प्रभावना का अर्थ है यश और महिमा को प्रकट करना/प्रकाशित करना। अपनी आत्मा को रत्नत्रय के तेज से निरन्तर प्रकाशित करना चाहिये। जैनधर्म की यशःकीर्ति और महिमा को प्रचुर दान से, उग्र तप से, समारोह सहित रथयात्रा इत्यादि सहित पूजन इत्यादि करवाकर, पाठशाला-विद्यालय खोलकर तथा सरस्वती भवन इत्यादि स्थापित करके प्रकट करना चाहिये। अनादि मिथ्यात्व के कारण लोग सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा जीवादि तत्त्व इत्यादि के स्वरूप को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि रागी-द्वेषी देव इत्यादि की आराधना/मान्यता घर-घर हो रही है। सम्यग्दृष्टि जीवों का कर्त्तव्य है कि अनादि अंधकार को दूर करके रत्नत्रय रूप सच्चे मोक्षमार्ग तथा दान, तप, जिनपूजन इत्यादि का प्रचार-प्रसार करें। यही सम्यक्त्व का प्रभावना अंग है। निश्चयनय की अपेक्षा तो—

"जो आत्मा ज्ञानरूपी रथ में आरूढ़ हुआ मनोरथ मार्ग (ज्ञान रूपी मार्ग) में भ्रमण करता है वह जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"

(समयसार-२३६)

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का व्यावहारिक और निश्चय वर्णन किया। यह आठ अंग किसी जीव के सम्पूर्ण होते हैं, किसी जीव के थोड़ होते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण अंग बगैर शरीर शोभा

को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्यक्त्व की शोभा तो आठों अंगों को सम्पूर्णता से ही प्रकट होती है। कहा भी है—"जिस प्रकार अक्षर की मात्रा से हीन मंत्र विष-वेदना को मिटाने में असमर्थ है, उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-मरण की परम्परा को नाश करने में असमर्थ है।" (रत्नकरण्ड श्रा० २१) इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को इन आठों अंगों का पालन करना ही चाहिये।

दूसरा श्रावक धर्म अधिकार समाप्त हुआ।

(३) सम्यग्ज्ञान अधिकार ।

उचित उपाय से सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिये—

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥
॥ ३-१-३१ ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**आश्रितसम्यक्त्वैः**) जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है—ऐसे (**आत्महितैः**) आत्मा का हित करने वाले पुरुषों को (**नित्यम्**) सदा (**आम्नाययुक्तियोगैः**) जिनागम की परम्परा एवं युक्ति अर्थात् प्रमाण और नय के अनुयोग से (**निरूप्य**) विचार करके (**यत्नेन**) यत्नपूर्वक (**सम्यग्ज्ञानं**) सम्यग्ज्ञान का (**समुपास्यं**) भले प्रकार सेवन करना चाहिये ।

अर्थ—इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है– ऐसे आत्मा का हित करने वाले पुरुषों को सदा जिनागम की परम्परा एवं युक्ति अर्थात् प्रमाण और नय के अनुयोग से विचार करके यत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञान का भले प्रकार सेवन करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिन जीवों को सौभाग्य से सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है, उन धर्मात्मा जीवों को अपने आत्मा का हित करने के लिये निरन्तर यत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिये । "प्रमाण-नयैरधिगमः"—पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय से ही होता है । जो पदार्थ का स्वरूप जिनागम और आचार्यों की परम्परा से मिलता हो उसको प्रमाण और नय से सम्यक् रूप से जानना ही सम्यग्ज्ञान का सेवन है । प्रमाण और नय का संक्षिप्त वर्णन—

प्रमाण

'प्रमाण'—जो ज्ञान अखण्ड वस्तु को विषय करे उसे प्रमाणज्ञान कहते हैं । सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है । प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्षप्रमाण

के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। प्रत्यक्षप्रमाण के भी दो भेद हैं—एक पारमार्थिक प्रत्यक्ष तथा दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—एक एकदेशपारमार्थिक प्रत्यक्ष तथा दूसरा सकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'पारमार्थिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान केवल आत्मा के ही अधीन होकर जितना अपना विषय है उसे उतनी ही विशुद्धता से स्पष्ट रूप से जाने।

'एकदेशपारमार्थिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान केवल रूपी पदार्थों को विना किसी की सहायता से स्पष्ट जाने। जैसे मनःपर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान।

'सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान केवल आत्मा के आधीन होकर तीनों लोक के समस्त चराचर तथा रूपी-अरूपी पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित विशुद्ध और स्पष्ट रूप से जानता है—जैसे केवलज्ञान।

'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान नेत्रादि इन्द्रियों तथा मन की सहायता से पदार्थों को एकदेश प्रत्यक्ष ग्रहण करे। परमार्थ दृष्टि से यह ज्ञान परोक्ष ही है परन्तु व्यवहार दृष्टि से इसे प्रत्यक्ष कहा गया है क्योंकि यह ज्ञान सर्वथा स्पष्ट नहीं होता। जैसे किसी वस्तु को नेत्र से देखने पर ज्ञान हुआ कि वस्तु सफेद है, परन्तु उसमें जो मलिनता का अंश है वह स्पष्ट नहीं दिखता, अतः यह ज्ञान व्यवहार से प्रत्यक्ष है, वास्तव में परोक्ष है।

(१) 'परोक्षप्रमाण'—जो ज्ञान पराधीन हैं अर्थात् मन, इन्द्रियों, प्रकाश और उपदेश आदि की सहायता से अपने विषय को जानता तो है परन्तु स्पष्ट रूप से नहीं जानता। इसके पाँच भेद हैं—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।

(i) 'स्मृति'—पहले कभी जिस पदार्थ को जाना था, उसे ही याद करके कालान्तर में जान लेने को स्मृति ज्ञान कहते हैं।

(ii) प्रत्यभिज्ञान'—स्मृति और प्रत्यक्ष विषयभूत पदार्थ को साथ जोड़कर जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे—यह वही मनुष्य है जिसे देहली में देखा था, अथवा यह वही नील गाय है जिसके बारे में सुना था। यहां स्मृति और प्रत्यक्ष पदार्थ के जोड़ से ज्ञान हुआ।

(iii) 'तर्क'—अविनाभावी सम्बन्धी व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं। यहाँ तर्क से यह ज्ञान हुआ कि धूम है तो अग्नि अवश्य होनी चाहिये।

(iv) 'अनुमान'— किसी लक्षण को देखकर पदार्थ के निश्चय को अनुमान कहते हैं। जैसे कहीं धुआं निकलता देखकर यह निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

(v) 'आगम'—आप्त (सर्वज्ञदेव) के वचन के निमित्त से पदार्थ के जानने को आगम ज्ञान कहते हैं। जैसे शास्त्रों से तत्त्वार्थों इत्यादि का जानना।

नय

'नय'—जो ज्ञान वस्तु के एकदेश को विषय करे उसे नयज्ञान कहते हैं। अथवा प्रमाणज्ञान से जाने हुये पदार्थ के एक धर्म को मुख्यता से जो ग्रहण कराये उसे नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय दो प्रकार का है—

(१) 'द्रव्यार्थिकनय'—जो द्रव्य को मुख्यरूप से—सामान्यरूप से ग्रहण करे उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। उसके तीन भेद हैं।—नैगमनय, संग्रहनय तथा व्यवहारनय।

(i) 'नैगमनय'—संकल्पमात्र से जानने को नैगमनय कहते हैं। अथवा दो पदार्थों में से एक को गौण और दूसरे को मुख्य करके भेद अथवा अभेद को विषय करने वाला ज्ञान नैगमनय है। जैसे रसोई में कोई चावल चुगता था। किसी व्यक्ति ने पूछा 'क्या कर

रहे हो ? उत्तर मिला 'भात बना रहा हूँ।' यहाँ चावल और भात को अभेद लिया गया तथा चावल में भात का संकल्प किया गया है।

(ii) 'संग्रहनय' - अपनी जाति का विरोध नहीं करके, सामान्य रूप से पदार्थ के ग्रहण को संग्रहनय कहते हैं। जैसे 'जीव' कहने से चारों गति तथा पाँचों जाति के जीवों का संग्रह होता है।

(iii) 'व्यवहारनय'—जो संग्रहनय से ग्रहण किये हुये पदार्थ का विशेष—भेद करे उसे व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जीव के नर-नारकादि गति की अपेक्षा अथवा एकेन्द्रिय आदि जाति की अपेक्षा भेद करना।

(२) 'पर्यायार्थिकनय' जो नय द्रव्य के स्वरूप को गौण करके पर्याय को अथवा गुण को ग्रहण करे उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। इसके चार भेद हैं (i) ऋजुसूत्रनय, (ii) शब्दनय, (iii) समभिरूढ़नय तथा (iv) एवं भूतनय।

(i) 'ऋजुसूत्रनय'—जो भूतकाल तथा भविष्यत्काल की अपेक्षा न करके, केवल वर्तमान की पर्याय मात्र को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे—जीव की वर्तमान पर्याय को मनुष्य-देव इत्यादि कहना।

(ii) 'शब्दनय' व्याकरणादि द्वारा शब्द के लिंग इत्यादि के भेद से जो पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करे वह शब्दनय है। जैसे—दारा, भार्या, कलत्र। यह तीनों भिन्न लिंग के शब्द एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं, परन्तु शब्दनय स्त्री पदार्थ को लिंग की भिन्नता के अनुसार तीन भेद रूप ग्रहण करता है।

(iii) 'समभिरूढ़नय'—जहाँ शब्द नाना पदार्थों को गौण करके एक ही अर्थ में रूढ़ होता है उसे समभिरूढ़नय कहते हैं। जैसे 'गौः' शब्द के कई अर्थ हैं, उन सबको गौण करके 'गाय' के अर्थ में रूढ़ करना।

(iv) 'एवंभूतनय'—जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है, जब वह पदार्थ उस क्रियारूप परिणमे तभी उस रूप ग्रहण करना एवंभूत-

नय कहलाता है। जैसे जिस समय पुजारी पूजा कर रहा है, उसी समय उसे पुजारी कहना, अन्य समय / अवस्था में पुजारी न माना।

इस प्रकार प्रमाण और सात नयों का संक्षिप्त वर्णन किया गया। प्रमाण और नय के संयोग को 'युक्ति' कहते हैं। प्रमाण और नय से विचारे बिना पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अतः सम्यग्दृष्टि जीव को इनके द्वारा जिनेन्द्र-कथित पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानने योग्य है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर—

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः॥
॥ ३-२-३२ ॥

अन्वयार्थ—(**दर्शनसहभाविनोऽपि**) सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने पर भी (**बोधस्य**) सम्यग्ज्ञान का (**पृथगाराधनम्**) जुदा ही आराधन करना (**इष्टं**) कल्याणकारी है (**यतः**) क्योंकि (**अनयोः**) इन दोनों में (**लक्षणभेदेन**) लक्षण के भेद से (**नानात्व**) भिन्नता (**संभवति**) संभव होती है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने पर भी सम्यग्ज्ञान का जुदा ही आराधन करना कल्याणकारी है, क्योंकि इन दोनों में अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में लक्षण के भेद से भिन्नता संभव है।

विशेषार्थ—श्रद्धा और ज्ञान आत्मा के गुण हैं जो सदा विद्यमान रहते हैं। परन्तु सविकारी होने से मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान की संज्ञा पाते हैं। मिथ्यात्व दूर होकर जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, उसी समय कुमति तथा कुश्रुत ज्ञान सम्यक्ज्ञान होकर मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान की संज्ञा पाते हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञान की जुदा रूप से आराधना करनी चाहिये। क्योंकि उनके लक्षण पृथक्-पृथक् हैं। 'सम्यग्दर्शन' का लक्षण यथार्थ श्रद्धान तथा 'सम्यग्ज्ञान' का लक्षण यथार्थ ज्ञान है। लक्षण की अपेक्षा दोनों को जुदा-जुदा कहा है।

सम्यक्त्व के बाद ज्ञान कहने का कारण—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥
॥ ३-३-३३ ॥

अन्वयार्थ—(**जिनाः**) जिनेन्द्र भगवान् (**सम्यग्ज्ञानं**) सम्यग्ज्ञान को (**कार्यं**) कार्य और (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व को—सम्यग्दर्शन को (**कारणं**) कारण (**वदन्ति**) कहते हैं (**तस्मात्**) इसलिये (**सम्यक्त्वानन्तरं**) सम्यक्त्व के बाद ही (**ज्ञानाराधनम्**) ज्ञान की आराधना करना (**इष्टं**) योग्य है।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन को कारण कहते हैं, इसलिये सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञान की आराधना करना योग्य है।

विशेषार्थ—यद्यपि मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आत्मा में विद्यमान थे तथा पदार्थों को जानते थे, परन्तु सम्यक्त्व के अभाव में उन्हें कुमति और कुश्रुत कहा जाता था। जिस समय सम्यक्त्व प्रकट हुआ, उसी समय से यह ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप जाने गये। इससे सिद्ध है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् ही 'ज्ञान' को सम्यग्ज्ञान कहा गया। इसलिये सम्यक्त्व को 'कारण' और सम्यग्ज्ञान को 'कार्य' कहा गया है, क्योंकि कार्य कारणपूर्वक ही होता है। इसलिये सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञान की आराधना करने योग्य है।

कारण-कार्यत्व किस तरह संभव—

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥
॥ ३-४-३४ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**सम्यक्त्वज्ञानयोः**) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों (**समकालं**) एक साथ (**जायमानोः अपि**) उत्पन्न होने पर भी (**दीपप्रकाशयोः**) दीपक और प्रकाश को (**इव**)

तरह उनमें (**कारणकार्यविधानं**) कारण और कार्य की विधि (**सुघटम्**) अच्छी तरह घटित होती है।

अर्थ—निश्चय ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होने पर भी दीपक और प्रकाश की तरह उनमें कारण और कार्य की विधि अच्छी तरह घटित होती है।

विशेषार्थ—जबकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा में एक ही समय प्रकट होते हैं तब उनमें कारण-कार्य कैसे संभव है? इसी का समाधान दीपक और प्रकाश के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं। यद्यपि दीपक का जलना और प्रकाश का होना एक ही समय में होता है, परन्तु दीपक का जलना ही प्रकाश का कारण है। यदि दीपक न जले तो प्रकाश का अभाव ही रहेगा। इसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते तो हैं एक ही समय में, परन्तु सम्यक्त्व होने से ही ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' कहलाता है, अतः इनमें कारण-कार्य भाव भली प्रकार सिद्ध होता है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥
॥ ३-५-३५ ॥

अन्वयार्थ—(**सदनेकान्तात्मकेषु**) प्रशस्त अनेकान्तात्मक (**तत्त्वेषु**) पदार्थों में (**अध्यवसायः**) ज्ञानपूर्वक निर्णय (**कर्त्तव्यः**) करना योग्य है और (**संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तम्**) संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित (**तत्**) वह सम्यग्ज्ञान (**आत्मरूपं**) आत्मा का निजस्वरूप है।

अर्थ—प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक धर्म या स्वभाव वाले पदार्थों में ज्ञानपूर्वक निर्णय करना योग्य है और संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित वह सम्यग्ज्ञान आत्मा का निजस्वरूप है।

विशेषार्थ पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने का नाम 'सम्यग्ज्ञान' है। पदार्थ अनेकान्त रूप अर्थात् अनेक गुण, धर्म और पर्यायों

वाले हैं। इन गुण-पर्यायों का सच्चा निर्दोष ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है अन्य कोई वस्तु नहीं। पदार्थ के स्वरूप का संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय दोष रहित जानना ही सम्यग्ज्ञान का लक्षण है। संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय का खुलासा —

'संशय'—विरुद्ध दोतरफा ज्ञान को संशय ज्ञान कहते हैं। जैसे— नरक, स्वर्ग और मोक्ष हैं, या नहीं हैं ? पदार्थ नित्य-अनित्य अनेकान्तात्मक है या नहीं ?

'विपर्यय'—वस्तु के स्वरूप से अन्यथा रूप विपरीत ज्ञान को विपर्यय ज्ञान कहते हैं। जैसे—आत्मा को दर्शन-ज्ञान इत्यादि रहित मानना।

'अनध्यवसाय'—पदार्थ के निर्णयात्मक/निश्चयात्मक स्वरूप को जानने की इच्छा के अभाव में 'कुछ होगा'—ऐसे अनिश्चित ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों दोषों से रहित मोक्ष के प्रयोजनभूत पदार्थों के यथार्थ ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में क्या अन्तर है ? समाधान—दोनों के देखने-जानने में विशेष अन्तर है। मिथ्यादृष्टि उन्मत्त पुरुष के समान कदाचित् असत् को सत् अथवा सत् को असत् मानता है। वह पदार्थों के स्वरूप, कारण तथा भेदाभेद का ठीक निर्णय नहीं कर सकता। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि का ज्ञान वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा देखता-जानता है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग —

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥
॥ ३-६-३६ ॥

अन्वयार्थ—(**ग्रन्थार्थोभयपूर्णं**) ग्रन्थरूप, अर्थरूप और उभयरूप अर्थात् शब्दरूप, अर्थरूप तथा शब्दअर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण (**काले**) काल में अर्थात् अध्ययनकाल में आराधन करने योग्य (**विनयेन**) मन, वचन और काय की शुद्धता रूप (**च**) और (**सोपधानं**) धारणा-युक्त (**बहुमानेन**) अत्यन्त सन्मान से अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु के वन्दन, नमस्कारादि (**समन्वितम्**) सहित तथा (**अनिह्नवं**) विद्या-गुरु को छिपाये बिना (**ज्ञानम्**) ज्ञान की (**आराध्यं**) आराधना करना योग्य है।

अर्थ—ग्रन्थरूप, अर्थरूप और उभयरूप अर्थात् शब्दरूप, अर्थरूप और शब्दअर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण काल में अर्थात् अध्ययन काल में आराधन करने योग्य मन, वचन, काय की शुद्धतारूप विनय और धारणायुक्त, अत्यन्त सन्मान से अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु के वन्दन, नमस्कार आदि सहित तथा विद्यागुरु के छिपाये बिना ज्ञान की आराधना करना योग्य है।

विशेषार्थ—इस श्लोक में आचार्यश्री ने शास्त्रों के स्वाध्याय के कुछ नियमों का उल्लेख किया है। शास्त्र पढ़ने वाले को शब्दरूप ग्रन्थ का, उसके अर्थ का या ग्रन्थ और अर्थ दोनों का यथासमय, विनयपूर्वक, मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक, धारणायुक्त, अपने गुरु का नाम छिपाये बिना तथा देव, शास्त्र, गुरू के वन्दनपूर्वक सम्यग्-ज्ञान की आराधना करनी चाहिये—शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। आराधना के आठ अंग निम्न प्रकार हैं—

(१) 'व्यंजनाचार'—ग्रन्थ के अक्षर, पद, वाक्य का यत्नपूर्वक शुद्ध उच्चारण करना व्यंजनाचार है।

(२) 'अर्थाचार'—ग्रन्थ के शब्दों के शुद्ध अर्थ को यथार्थ रूप से समझना अर्थाचार है।

(३) 'उभयाचार'—ग्रन्थ के शब्द तथा अर्थ दोनों को शुद्ध रूप से जानना अथवा पठन करना उभयाचार है।

(४) 'कालाचार'—उचित काल में स्वाध्याय करना कालाचार है। सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न और मध्यरात्रि—इनके पहले तथा

पीछे का दो घड़ी काल सन्ध्याकाल कहलाता है। इसको छोड़कर शेष समय में ग्रन्थों का स्वाध्याय योग्य है। इसी को कालाचार कहते हैं। चारों सन्ध्याकालों के समय, दिग्दाह (आग लगने पर) उल्कापात (तारा टूटना), वज्रपात (बिजली गिरना), इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के काल में सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन नहीं करना चाहिये। स्तोत्र तथा धर्मकथा आदि पढ़ सकते हैं।

(५) 'विनयाचार'—शुद्ध जल से हाथ-पांव धोकर, शास्त्र को उच्चस्थान में विराजमान करके नमस्कारपूर्वक पढ़ने को विनयाचार कहते हैं।

(६) 'उपधानाचार'—मन लगाकर ध्यानपूर्वक शास्त्र पढ़ने अथवा सुनने को उपधानाचार कहते हैं।

(७) 'अनिह्नवाचार'—जिस शास्त्र से अथवा जिस गुरू से ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके नाम को न छिपाना अनिह्नवाचार है।

(८) 'बहुमानाचार'—शास्त्र का तथा पढ़ाने वाले गुरू का यथा-योग्य सम्मान बहुमानाचार है।

तीसरा सम्यग्ज्ञान अधिकार समाप्त हुआ।

(४) सम्यक्चारित्र अधिकार

सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् सम्यक्चारित्र ग्रहण करना चाहिये -

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ।।
।। ४-१-३७ ।।

अन्वयार्थ—(**विगलितदर्शनमोहैः**) जिन्होंने दर्शनमोह का नाश कर दिया है (**समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः**) सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जाना है और (**नित्यमपि निःप्रकम्पैः**) जो सदाकाल अकम्प - दृढ़चित्त वाले हैं—ऐसे पुरुषों द्वारा (**सम्यक्-चारित्रम्**) सम्यक्चारित्र (**आलम्ब्यम्**) अंगीकार करने योग्य है ।

अर्थ—जिन्होंने दर्शनमोह का नाश कर दिया है, सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जाना है और जो सदाकाल अकम्प - दृढ़चित्त वाले हैं—ऐसे पुरुषों द्वारा सम्यक्चारित्र अंगीकार करने योग्य है ।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति मात्र से जीव को सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि चारित्र अपनाये विना आत्मकल्याण नहीं हो सकता । इसलिये आचार्यश्री सम्यग्दृष्टि जीवों को सम्यक्चारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा दे रहे हैं । जैसे औषधि की जानकारी तथा श्रद्धान मात्र से रोगी का रोग दूर नहीं कर सकते, इसके लिये औषधि का सेवन करना भी अनिवार्य है, उसी प्रकार जिन्होंने दर्शनमोहनीय कर्म का नाश करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है तथा सम्यग्ज्ञान द्वारा तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जाना है- ऐसे निष्कम्प चित्त वाले जीवों को सच्चे सुख (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये सम्यक्चारित्र ग्रहण करना अनिवार्य है । रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग है ।

सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही सम्यक्चारित्र क्यों ग्रहण करें—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥
॥ ४-२-३८ ॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानपूर्वकं चारित्रम्**) अज्ञानभाव सहित चारित्र (**सम्यग्व्यपदेशं**) सम्यक् नाम को (**न हि लभते**) नहीं पाता (**तस्मात्**) इसलिये (**ज्ञानानन्तरम्**) सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही (**चारित्राराधनं**) चारित्र की आराधना (**उक्तम्**) कही गई है।

अर्थ—अज्ञानभाव सहित चारित्र सम्यक् नाम को नहीं पाता, इसलिये सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही चारित्र की आराधना कही गई है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' नहीं कहलाता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के विना चारित्र भी 'सम्यक्-चारित्र' नहीं कहलाता, अतः सम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही चारित्र की आराधना करने का आचार्यश्री ने उपदेश दिया है। सम्यग्ज्ञान हुये विना पापक्रिया के त्यागरूप चारित्र का ग्रहण करना सम्यक्चारित्र न होकर मिथ्याचारित्र ही कहलाता है। जब तक तत्त्वार्थ इत्यादि का यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक मोक्षमार्ग का आचरण करना संभव नहीं है। अगर कोई अज्ञानवश किसी गलत औषधि का सेवन करे तो रोगी मरण को ही प्राप्त होगा, उसी प्रकार अगर कोई सम्यग्ज्ञान विना चारित्र धारण करे तो संसार की वृद्धि ही होगी। अथवा जैसे मृत शरीर में इन्द्रियाँ निष्प्रयोजन हैं, वैसे ही विना सम्यग्ज्ञान के शरीराश्रित वेष तथा क्रियाकाण्डसाधन, शुद्धोपयोग रूपी सम्यक्चारित्र की प्राप्ति में निष्प्रयोजन हैं—कार्यकारी नहीं हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही चारित्र धारण करना चाहिये, क्योंकि वही सम्यक्चारित्र कहलाता है तथा मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है।

चारित्र का लक्षण—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥
॥ ४-३-३९ ॥

अन्वयार्थ—(**यतः**) क्योंकि (**तत्**) वह (**चारित्रं**) सम्यक्-चारित्र (**समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्**) मन, वचन, काय के समस्त पापमय योगों के त्याग से (**सकलकषायविमुक्तं**) सम्पूर्ण कषाय रहित है (**विशदम्**) निर्मल है (**उदासीनम्**) परपदार्थों से विरक्त है और (**आत्मरूपं**) आत्मस्वरूप (**भवति**) होता है।

अर्थ— क्योंकि वह सम्यक्चारित्र मन, वचन, काय के समस्त पापमय योगों के त्याग से सम्पूर्ण कषाय रहित है, निर्मल है, पर-पदार्थों से विरक्ति रूप/उदासीनतारूप और आत्मस्वरूप होता है।

विशेषार्थ—मन, वचन, काय सम्बन्धी समस्त पापमय योगों के परित्याग से सम्यक्चारित्र होता है। वह चारित्र समस्त कषायों से रहित है, परद्रव्यों से उदासीनता रूप है तथा निर्मल वीतराग आत्मा का स्वरूप है, वही सदाकाल रहने वाला है। समस्त कषायों के सर्वथा अभाव में होने वाला चारित्र यथाख्यात चारित्र है अर्थात् जैसा आत्मा का शुद्ध स्वरूप है वैसा ही चारित्र प्रकट हुआ है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि शुभराग अथवा शुभोपयोग सम्यक्चारित्र है या नहीं ? समाधान – आत्म परिणामों की विशुद्धता के कारण कषायें मन्द होती हैं। कषायों की मन्दता के कारण शुभोपयोग होता है। इसलिए कषायों की मन्दता के कारण शुभोपयोग भी कथंचित् चारित्र कह-लाता है।

देव, शास्त्र, गुरु, शील, तप, संयमादिक में होने वाली अत्यन्त शुभराग रूप प्रवृत्ति भी क्रोध, मान, माया के अभाव में तथा विषय-कषायादि के राग का अभाव होने के कारण मन्द कषाय ही है। शुभ-राग रूप अथवा प्रीति भाव रूप लोभकषाय है, परन्तु वह भी संसारी प्रयोजनों से रहित है, अतः उसकी भी मन्दता है। ज्ञानी जीव राग भावों से प्रेरित होकर, अशुभ रागों को छोड़कर शुभराग रूप प्रवृत्त होता है, परन्तु शुभभावों को उपादेय नहीं मानता, अपने शुद्धोपयोग की अपेक्षा मलिनता ही मानता है। इसलिए उसकी शुभराग रूप प्रवृत्ति को कथंचित् चारित्र कह सकते हैं।

चारित्र के भेद—

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्र्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥
॥ ४-४-४० ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसातः**) हिंसा से (**अनृतवचनात्**) असत्य वचनों से (**स्तेयात्**) चोरी से (**अब्रह्मतः**) कुशील से और (**परिग्रहतः**) परिग्रह से (**कात्स्न्र्यैकदेशविरतेः**) सर्वदेश और एकदेश विरक्त होने से वह (**चारित्रं**) सम्यक्चारित्र (**द्विविधम्**) दो प्रकार का (**जायते**) होता है।

अर्थ—हिंसा से, असत्य वचनों से, चोरी से, कुशील से और परिग्रह से सर्वदेश और एकदेश विरक्त होने से वह सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है।

विशेषार्थ—सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं— एक सर्वदेश—पंचमहाव्रत रूप तथा दूसरा एकदेश—पंचाणुव्रत रूप। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाँच पापों के सर्वथा त्याग से पंचमहाव्रत अथवा सर्वदेश—सकल चारित्र होता है तथा एकदेश त्याग से एकदेश अथवा पचाणुव्रत रूप चारित्र होता है।

इन दोनों प्रकार के चारित्रों के स्वामी—

निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥
॥ ४-५-४१ ॥

अन्वयार्थ—(**कात्स्न्र्यनिवृत्तौ**) सकल—सर्वदेश त्याग में (**निरतः**) लीन (**अयं यतिः**) यह मुनि (**समयसारभूतः**) शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्म स्वरूप में आचरण करने वाला (**भवति**) होता है। (**या तु एकदेशविरतिः**) और जो एकदेश त्याग है (**तस्याम्**) उसमें (**निरतः**) लगा हुआ है वह (**उपासकः**) उपासक (**भवति**) होता है।

अर्थ—सकल—सर्वदेश त्याग में लीन यह मुनि शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप में आचरण करने वाला होता है। और जो एकदेश त्याग है, उसमें लगा हुआ है वह उपासक/श्रावक होता है।

विशेषार्थ—जो हिंसादि पांच पापों के सकल सर्वदेश/सर्वथा त्याग में लगा हुआ है, पंचमहाव्रत धारण करता है उसे 'मुनि' कहते हैं। मुनि तो शुद्धोपयोग स्वरूप ही होता है, अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप में आचरण करने वाला होता है। शुभोपयोग रूप भावों को वह मुनिपद में मलिनता रूप ही मानता है। जो पांच पापों के एकदेश रूप त्याग में लगा हुआ पंचाणुव्रत ग्रहण करता है उसे श्रावक/उपासक कहते हैं। इस प्रकार सकल चारित्र का स्वामी तो मुनि है तथा देशचारित्र का स्वामी श्रावक है।

पांच पाप एक हिंसा स्वरूप ही हैं—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥
॥४-६-४२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्**) आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणाम के घात होने के कारण (**एतत्सर्वम्**) यह सब (**हिंसा एव**) हिंसा ही हैं (**अनृतवचनादि**) असत्य वचन आदि के भेद तो (**केवलम्**) केवल (**शिष्यबोधाय**) शिष्यों को समझाने के लिये (**उदाहृतं**) उदाहरण रूप कहे गये हैं।

अर्थ—आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणाम के घात होने के कारण, यह सब हिंसा ही है। असत्यवचन आदि के भेद तो केवल शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरण रूप कहे गये हैं।

विशेषार्थ—झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह - ये चारों पाप हिंसा में ही गर्भित हैं, क्योंकि इनमें भी हिंसा के पाप के समान आत्मा के शुद्धोपयोग रूप निज शुद्धात्म स्वभाव का घात होता है। इसलिये

पाँचों पाप मूल हिंसा के ही भेद हैं। जो शिष्य हिंसा के भेद-प्रभेद नहीं जानते, उनको समझाने के लिये झूठ, चोरी आदि का उदाहरण दिया गया है। हिंसा के त्याग में ही झूठ, चोरी इत्यादि का स्वयं त्याग हो जाता है। अतः ये सब हिंसा ही हैं।

हिंसा का स्वरूप—

यत्खलु कषायोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

॥४-७-४३॥

अन्वयार्थ—(**कषाययोगात्**) कषाय रूप परिणत मन, वचन, काय के योगों से (**द्रव्यभावरूपाणाम्**) द्रव्य और भाव रूप दो प्रकार के (**प्राणानां**) प्राणों का (**यत्**) जो (**व्यपरोपणस्य करणं**) घात करना है (**सा**) वह (**खलु**) निश्चय ही (**सुनिश्चिता**) भली प्रकार निश्चित की गई (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) है।

अर्थ—कषाय रूप परिणत मन, वचन, काय के योगों से द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का जो घात करना है, वह निश्चय ही भली प्रकार निश्चित की गई हिंसा है।

विशेषार्थ—'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोणं हिंसा'—प्रमत्तयोग से प्राणों का विनाश करना हिंसा है। अर्थात् कषाय युक्त मन, वचन, काय को परणति द्वारा अपने अथवा दूसरे के प्राणों का वियोग करना हिंसा है। हिंसा के दो भेद हैं—एक भावप्राणहिंसा तथा दूसरा द्रव्यप्राणहिंसा। जब किसी जीव के मन में, वचन में या शरीर में क्रोध आदि कषाय उत्पन्न होती हैं तो सबसे पहले अपने शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात होता है, इसी को भावप्राणहिंसा कहते हैं। पश्चात् यदि कषाय की तीव्रता से अपने हाथ पैर इत्यादि से अपने अंगों को कष्ट पहुंचाये या आत्मघात करके मर जाये तो अपने ही द्रव्यप्राणों का घात होता है, इसी को द्रव्यप्राणहिंसा कहते हैं।

अथवा यदि कषाय योग मे किसी अन्य जीव को कुवचन कहा, या ऐसा कोई कार्य किया जिससे उसका अन्तरंग पीड़ित होकर कषाय रूप परिणाम हो जायें तो यह पर के भाव-प्राणों की हिंसा हुई। यदि कषायवश पर के शरीर को पीड़ा पहुँचाई अथवा उसके प्राणों का नाश कर दिया, अथवा वह स्वयं आत्मघात कर ले तो यह परद्रव्य-प्राणों की हिंसा हुई। इस प्रकार स्व और पर की अपेक्षा हिंसा के चार भेद हो गये। (१) स्व-भावप्राणहिंसा, (२) स्व-द्रव्यप्राण-हिंसा, (३) पर-भावप्राणहिंसा तथा (४) पर-द्रव्यप्राणहिंसा। इतना विशेष है कि परहिंसा हो या न हो स्व-भावहिंसा हर हालत में होती है। इस प्रकार हिंसा का स्वरूप कहा।

हिंसा और अहिंसा का निश्चय लक्षण—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

॥४-८-४४॥

अन्वयार्थ—(**खलु**) वास्तव में (**रागादीनां**) रागादि भावों का (**अप्रादुर्भावः**) प्रकट न होना (**इति**) यही (**अहिंसा**) अहिंसा (**भवति**) होती है (**तेषामेव उत्पत्तिः**) उन रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही (**हिंसा**) हिंसा है (**इति**) ऐसा (**जिनागमस्य**) जैन आगम का (**संक्षेपः**) सार है।

अर्थ—वास्तव में रागादि भावों का प्रकट न होना—यही अहिंसा होती है। उन रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है। ऐसा जैनागम का सार है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक में हिंसा का स्वरूप बताते हुये कहा है कि 'कषाय युक्त परिणामों द्वारा अपने शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात ही हिंसा है।' यहाँ उसी भाव को दूसरे रूप से कह रहे हैं—शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात रागादि परिणामों से होता

है, ऐसे रागादि परिणामों का आत्मा में प्रकट न होना ही 'अहिंसा' है तथा उन रागादि भावों का आत्मा में प्रकट होना 'हिंसा' है।

द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादि राग के अनेक भेद हैं। किसी पदार्थ को इष्ट मानकर उसमें प्रीति रूप परिणाम करना 'राग' है। इसके विपरीत अप्रीति रूप परिणाम करना 'द्वेष' है। पर द्रव्य में मूर्च्छा -ममत्वभाव रखना 'मोह' है। स्त्री-पुरुष का मैथुन रूप परिणाम 'काम' है। किसी की क्रिया को अनुचित मानकर क्षोभ करना अथवा अपने या पर के घात या अनुपकार आदि के परिणाम उत्पन्न होना 'क्रोध' है। अपने को बड़ा तथा दूसरे को छोटा मानना 'मान' है। मन, वचन, काय में वक्रता अथवा दूसरों को ठगने का परिणाम होना 'माया' है। परद्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा रूप परिणाम 'लोभ' है। भली-बुरी चेष्टा देखकर विकसित रूप परिणाम 'हास्य' है। डरावने अथवा दुःख-दायक पदार्थों को देखकर डर रूप परिणाम 'भय' है। मनचाही चीज के अभाव में आर्त्तरूप परिणाम 'शोक' है। किसी गन्दी वस्तु को देखकर ग्लानि रूप परिणाम 'जुगुप्सा' है। कल्याणकारी कार्य या अपने कर्त्तव्य में अनादर रूप परिणाम 'प्रमाद' है। इन रागादि परिणामों/भावों का अभाव होना ही अहिंसा है। इसलिये जितना बन सके तथा जैसे भी बन सके वैसे रागादि भावों का नाश करना चाहिये।

हिंसा का लक्षण परजीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना क्यों नहीं किया ? समाधान— इस लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष लगते हैं। इसका खुलासा अगले श्लोकों में किया गया है।

अतिव्याप्ति दोष—

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥
॥४-६-४५॥

अन्वयार्थ—(**अपि**) और (**युक्ताचरणस्य**) योग्य—प्रयत्नपूर्वक आचरण करने वाले (**सतः**) सन्तपुरुष के (**रागाद्यावेशमन्तरेण**) रागादि भावों के अभाव में (**प्राणव्यपरोपणात्**) प्राणघात मात्र से (**हिंसा**) हिंसा (**जातु एव**) कभी भी (**न हि**) नहीं (**भवति**) होती है।

अर्थ—और योग्य—प्रयत्नपूर्वक आचरण करने वाले सन्तपुरुष के रागादि भावों के अभाव में प्राणघात मात्र से हिंसा कभी भी नहीं होती है।

विशेषार्थ—यदि किसी पुरुष के यत्नाचारपूर्वक क्रिया करने पर भी अथवा ईर्यापथ समितिपूर्वक गमनागमन करने पर भी किसी जीव का घात हो जाये तो वह पुरुष हिंसा का दोषी नहीं है, क्योंकि उसके परिणाम कषाय युक्त नहीं थे अर्थात् जीव का घात करने के परिणाम कदापि नहीं थे। जिस प्रकार कोई मुनिराज ध्यान में लीन हैं अथवा गमनागमन में पूर्ण सावधानी से यत्नपूर्वक ईर्यासमिति का पालन कर रहे हैं, ऐसे में कदाचित् कोई जीव उनके शरीर के सम्बन्ध से अथवा उनके पांव के नीचे आकर मर जाये तो मुनिराज को हिंसा का दूषण नहीं लगता, क्योंकि उनके परिणामों में कषाय नहीं थी। इस प्रकार जीव के प्राणघात अथवा शारीरिक पीड़ा होने पर भी हिंसा का दोष नहीं लगा। अतः 'परजीवों के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है'—हिंसा के ऐसे लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है, इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं है।

अव्याप्ति दोष—

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥
॥ ४-१०-४६ ॥

अन्वयार्थ—(**रागादीनां**) रागादि भावों के (**वशप्रवृत्तायाम्**) वशीभूत होकर (**व्युत्थानावस्थायां**) अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था

में (**जीवः**) जीव (**म्रियतां**) मरो (**वा**) या (**मा**) न मरो (**हिंसा**) हिंसा तो (**ध्रुवं**) निश्चित रूप से (**अग्रे**) आगे ही (**धावति**) दौड़ती है।

अर्थ—रागादि भावों के वशीभूत होकर अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो या न मरो, हिंसा तो निश्चित रूप से आगे ही दौड़ती है।

विशेषार्थ—यदि कोई पुरुष रागादि प्रमाद भावों के वशीभूत होकर अयत्नाचार-पूर्वक/असावधानी पूर्वक उठता-बैठता है, गमनागमन करता है अथवा कोई अन्य कार्य करता है तो वहाँ 'जीव मरे अथवा न मरे', परन्तु उस पुरुष को कषायभाव युक्त होने के कारण, हिंसा का दोष अवश्य लगता है। यहाँ परजीव के प्राणों को पीड़ा न होते हुए भी प्रमाद रूप प्रवर्तन करने के कारण हिंसा का दूषण लगा। इसलिए 'परजीव को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है'— इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है, अतः यह लक्षण ठीक नहीं है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी के प्राणों का घात किए बिना अथवा किसी को शारीरिक पीड़ा पहुँचाये बिना हिंसा कैसे संभव है? इसका समाधान आचार्यश्री अगले श्लोक में स्वयं कर रहे हैं।

परजीव के प्राणघात बिना हिंसा कैसे संभव है?

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥

॥ ४-११-४७ ॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात्**) क्योंकि (**आत्मा**) जीव (**सकषायः सन्**) कषाय भाव से युक्त होने से (**प्रथमम्**) प्रथम तो (**आत्मना**) अपने आप (**आत्मानम्**) अपना ही (**हन्ति**) घात करता है (**तु**) और (**पश्चात्**) बाद में भले ही (**प्राण्यन्तराणां**) दूसरे जीवों की (**हिंसा**) हिंसा (**जायते**) हो (**वा**) या (**न**) न हो।

अर्थ—क्योंकि जीव कषायभाव से युक्त होने से प्रथम तो अपने आप अपना ही घात करता है और बाद में भले ही दूसरे जीवों की हिंसा हो या न हो।

विशेषार्थ—हिंसा का अर्थ है घात करना। घात के दो भेद हैं—एक आत्मघात—अपना घात तथा दूसरा परघात—दूसरे का घात। जब आत्मा कषायभावों से परिणमन करके किसी के घात करने का परिणाम करता है तो सबसे पहले अपना आत्मघात करता है, क्योंकि उसने अपने शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात किया। तत्पश्चात् यदि अन्य जीव की आयु पूरी हो गई हो अथवा उसका असाता कर्म का उदय हो तो उसका भी घात हो सकता है। यदि आयु शेष हो या साता कर्म का उदय चल रहा हो तो उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता क्योंकि उसका घात इत्यादि उसके कर्माधीन है। इस प्रकार परजीव का घात न होते हुए भी, कषाय भावों से अपना आत्मघात तो हो ही गया। आत्मघात तथा परघात दोनों ही तो हिंसा हैं। इस प्रकार परजीव के प्राणघात किए बिना भी हिंसा संभव है।

परघात की अपेक्षा भी हिंसा का सद्भाव—

हिंसाया अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥

॥४-१२-४८॥

अन्वयार्थ (**हिंसायाः**) हिंसा से (**अविरमणं**) विरक्त न होने से और (**हिंसापरिणमनम्**) हिंसा रूप परिणमन करने से (**अपि**) भी (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) होती है (**तस्मात्**) इसलिये (**प्रमत्तयोगे**) प्रमाद—कषाय के योग में (**नित्यम्**) निरन्तर (**प्राणव्यपरोपणं**) प्राण-घात का सद्भाव है।

अर्थ—हिंसा से विरक्त न होने से (हिंसा होती है) और हिंसा-रूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है, इसलिए प्रमाद—कषाय के योग में निरन्तर प्राणघात का सद्भाव है।

विशेषार्थ—परघात की अपेक्षा भी हिंसा के दो भेद हैं—एक 'अविरमणरूप हिंसा' और दूसरा 'परिणमनरूप हिंसा'।

(१) 'अविरमण हिंसा' का अर्थ है हिंसा से विरत न होना अर्थात् हिंसा का त्याग न करना। कोई जीव किसी परजीव का घात तो नहीं कर रहा है, किसी अन्य ही कार्य में लगा है, परन्तु क्योंकि उसने हिंसा का त्याग नहीं किया है, इसलिए उसे हिंसा का दोष लगता ही है। यहाँ प्रश्न होता है कि उसने हिंसा तो की नहीं फिर हिंसा का दोष कैसे संभव है? समाधान—जैसे कोई शेर सो रहा है, हिंसा नहीं कर रहा है, परन्तु उसके अन्तरंग में हिंसा करने के भाव का सद्भाव है, अतः वह अविरमणरूप हिंसा का भागी है। इसी प्रकार कोई जीव हिंसा तो नहीं कर रहा है, अन्य ही किसी कार्य में लगा है, परन्तु हिंसा का त्याग न करने से हिंसा उसके अन्तरंग में विद्यमान है, मौका पड़ने पर हिंसा कर सकता है, इसलिए वह 'अविरमणरूप हिंसा' का भागी है।

(२) 'परिणमनरूप हिंसा'—जिस समय कोई जीव परजीव के घात में मन से, वचन से अथवा काय से लगा हुआ है तो उसे 'परिणमनरूप हिंसा' होती है।

हिंसा के उपर्युक्त दोनों भेदों में प्रमादरूप कषाय के योग का अस्तित्व पाया ही जाता है और जब तक प्रमाद भाव है, तब तक हिंसा का अभाव होना असंभव है। इसलिए मन, वचन, काय से हिंसा के त्याग की दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

जब परिणामों से हो हिंसा होती है तो बाह्य परवस्तु का त्याग क्यों करें—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥
॥ ४-१३-४९ ॥

अन्वायार्थ—(**खलु**) वास्तव में (**परवस्तुनिबन्धना**) परवस्तु के कारण से जो उत्पन्न हो ऐसी (**सूक्ष्म हिंसा अपि**) सूक्ष्म हिंसा भी

(**पुंसः**) आत्मा के (**न भवति**) नहीं होती (**तदपि**) तो भी (**परिणामविशुद्धये**) परिणामों की निर्मलता के लिए (**हिंसायतननिवृत्तिः**) हिंसा के स्थान रूप परिग्रह आदि का त्याग (**कार्या**) करना चाहिए।

अर्थ—वास्तव में परवस्तु के कारण जो उत्पन्न हो ऐसी सूक्ष्म हिंसा भी आत्मा के नहीं होती, तो भी परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थानरूप परिग्रह आदि का त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ—यहां यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि राग-द्वेष रूप परिणामों से ही हिंसा होती है तो बाह्य परवस्तु का त्याग क्यों करना चाहिए। समाधान - यह तो ठीक है कि परवस्तु के कारण से आत्मा में सूक्ष्म - रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती, परन्तु परिणामा की निर्मलता के लिए परवस्तुरूप परिग्रह का त्याग कराया जाता है। क्योंकि परवस्तु का निमित्त हो तो उसका अवलम्बन पाकर ही आत्मा में रागादि परिणाम उत्पन्न होते हैं। जैसे जिस माता के कोई पुत्र हो तो उसी से ऐसा कहा जा सकता है कि 'मैं तेरे पुत्र को मारूँगा'। यदि पुत्र ही न हो तो मारने के परिणाम किस प्रकार हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। उसी प्रकार जब बाह्य परिग्रह आदि का निमित्त हो तो उनका अवलम्बन पाकर कषाय रूप परिणाम होते हैं, यदि परिग्रह आदि का त्याग कर दिया हो तो अवलम्बन विना कषाय रूप परिणाम उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इसलिए परिणामों की विशुद्धता के लिए बाह्य कारण रूप परवस्तु का त्याग करना ही चाहिए।

एक पक्षाग्रही का निषेध—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥
॥ ४-१४-५० ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो जीव (**निश्चयम्**) निश्चय के यथार्थ स्वरूप को (**अबुध्यमानः**) न जानकर (**तमेव**) उसे ही (**निश्चयतः**)

निश्चय श्रद्धा से (**संश्रयते**) अंगीकार करता है (**स**) वह (**बालः**) मूर्ख (**बहिः करणालसः**) बाह्य क्रियाओं में आलसी है और (**करण-चरणं**) बाह्य क्रिया रूप आचरण का (**नाशयति**) नाश करता है।

अर्थ – जो जीव निश्चयनय के यथार्थ स्वरूप को न जानकर, उसे ही निश्चयनयश्रद्धान से अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रियाओं में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण का नाश करता है।

विशेषार्थ यहाँ आचार्य श्री ने एकान्तपक्ष का निषेध किया है। कोई निश्चयनय का पक्ष लेने वाला जीव निश्चयनय के यथार्थ स्वरूप को जानता नहीं, केवल व्यवहार रूप बाह्य परिग्रह का त्याग करता है, उपवासादि का पालन करता है, बाह्य क्रियाकाण्ड को ही उपादेय मानकर उसी को मोक्षमार्ग जानता है, ऐसा पुरुष अनुभव रूप शुद्धोपयोगमय शुद्धात्म स्वभाव का नाश करता है। अशुभोपयोग का तो त्याग किया है, पर-जीव की दयारूप धर्म को पकड़कर ही सन्तुष्ट है। शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वभाव के अनुभव का पुरुषार्थ नहीं करता।

अथवा

कोई जीव निश्चयाभासी हुआ, बाह्य परिग्रह आदि का त्याग किए विना, व्रत संयमादि को ग्रहण किए विना स्वच्छन्द हुआ प्रवर्तन करता है। अन्तरंग हिंसा को ही हिंसा मानता है। ऐसा कहता है 'कि बाह्य परिग्रहादि रखने में, अथवा बाह्य संयमादि पालन न करने में मुझमें कोई दोष नहीं आता, भाव शुद्ध होना चाहिए, बाह्य क्रिया कुछ भी करो; इसमें आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं होता। ऐसा प्रमादी जीव बाह्य दयाधर्म का नाश करता है। अन्तरंग निमित्त पाकर ही बाह्य परिणाम भी शुद्ध होते हैं, इस प्रकार अन्तरंग अपेक्षा भी निर्दय ही हुआ।

इस प्रकार दोनों ही एकान्त पक्ष में मूढ़ होने के कारण वास्तविक मोक्षमार्ग का अनुसरण नहीं कर पाये। निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को भलीप्रकार समझकर अंगीकार करना चाहिए, तभी सच्चा मोक्षमार्ग बनता है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा आठसूत्र । पहला सूत्र—

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥
॥ ४-१५-५१ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) वास्तव में (**एकः**) एक जीव (**हिंसां**) हिंसा को (**अविधायापि**) न करने पर भी (**हिंसाफलभाजनं**) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (**भवति**) होता है और (**अपरः**) दूसरा (**हिंसां कृत्वा अपि**) हिंसा करके भी (**हिंसाफलभाजनं**) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (**न स्यात्**) नहीं होता है ।

अर्थ—वास्तव में एक जीव हिंसा को न करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल भोगने का पात्र नहीं होता है ।

विशेषार्थ—किसी जीव ने द्रव्यहिंसा तो नहीं की परन्तु अन्तरंग में भावहिंसा विद्यमान होने के कारण वह हिंसा के फल का भागी है तथा अन्य कोई जीव द्रव्यहिंसा करके भी अन्तरंग में भावहिंसा के अभाव के कारण हिंसा के फल का भागी नहीं है । वह कैसे ? इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—जैसे कोई मछुआ सबेरे से सायं तक मछली पकड़ने की इच्छा / भावना से नदी में जाल डाले बैठा रहा, किन्तु मछली एक भी नहीं फंसी । इस दशा में मछुआ द्रव्यहिंसा न करते हुए भी भावहिंसा का अपराधी है, अतः वह हिंसा के फल का भागी है । पुनः कोई वीतरागी मुनि ध्यान में लीन है, अथवा इर्यासमितिपूर्वक सावधानी से गमनागमन कर रहा है, कदाचित् कोई जीव उसके शरीर से टकराकर अथवा पाँव के नीचे आकर मर जाये, तो द्रव्यहिंसा होते हुए भी भावहिंसा के अभाव में मुनि हिंसा के फल का भागी नहीं है ।

इस प्रकार एक जीव द्रव्यहिंसा न करके भी भावहिंसा विद्यमान होने के कारण हिंसा के फल का भागी है और दूसरा द्रव्यहिंसा के होते हुए भी भावहिंसा के अभाव में हिंसा के फल का भागी नहीं है । हिंसा / अहिंसा में भावों की ही प्रधानता है ।

सूत्र २—अल्पहिंसा करने पर महाहिंसा का फल तथा बहुत हिंसा करने पर अल्पहिंसा का फल—

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।
।। ४-१६-५२ ।।

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक जीव को तो (**अल्पा**) छोटी सी (**हिंसा**) हिंसा भी (**काले**) उदयकाल में (**अनल्पम्**) बहुत अधिक (**फलम्**) फल (**ददाति**) देती है और (**अन्यस्य**) दूसरे जीव को (**महाहिंसा**) बहुत अधिक हिंसा भी (**परिपाके**) उदय काल में (**स्वल्पफला**) बहुत ही थोड़ा फल देने वाली (**भवति**) होती है।

अर्थ—एक जीव को तो छोटी-सी हिंसा भी उदयकाल में बहुत अधिक फल देती है और दूसरे जीव को अधिक हिंसा भी उदयकाल में बहुत ही थोड़ा फल देने वाली होती है।

विशेषार्थ—कर्मों के फल देने की शक्ति को 'अनुभाग बन्ध' कहते हैं। हिंसादि पाप करते समय जितनी तीव्र/मन्द कषाय होगी, उसी के अनुसार कर्मों का अनुभाग बन्ध होता है और उसके उदयकाल में उसी के अनुसार तीव्र/मन्द फल भोगना पड़ता है। यही बात इस श्लोक में कही है कि एक पुरुष ने बाह्य-द्रव्यहिंसा तो बहुत कम मात्रा में की, परन्तु अन्तरंग में भावहिंसा अति तीव्र होने के कारण उसे तीव्र कर्मबन्ध होगा, अतः महाहिंसा का फल भोगना होगा। अन्य किसी पुरुष ने द्रव्यहिंसा तो बहुत अधिक की, परन्तु अन्तरंग में भावहिंसा मन्द होने के कारण उसे मन्द कर्मबन्ध होगा, अतः हिंसा का बहुत थोड़ा फल मिलेगा। जैसे—किसी ने किसी को बहुत यातना देने का अभिप्राय मन में रखा, परन्तु किसी कारणवश मामूली यातना ही दे सका, ऐसी दशा में उसे कर्म के उदय काल में महान हिंसा का फल भोगना पड़ेगा। अन्य किसी पुरुष ने मन्दकषाय पूर्वक किसी पक्षी को पेड़ के फल की रक्षा हेतु साधारणतया भगाया, परन्तु पक्षी मर गया, तो ऐसी दशा में उस पुरुष को कर्म के उदयकाल में अल्पहिंसा का फल भोगना पड़ेगा। इस प्रकार हिंसा का फल अन्तरंग भावहिंसा की

तीव्रता/मन्दता पर निर्भर करता है। यहाँ भी भावों की ही प्रधानता है।

तीसरा सूत्र - एक ही हिंसा के तीव्र और मन्द फल—

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥
॥ ४-१७-५३ ॥

अन्वयार्थ (**सहकारिणोः अपि हिंसा**) एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी (**फलकाले**) फल देने के समय में—उदयकाल में (**अत्र**) इस (**वैचित्र्यम्**) विचित्रता को (**व्रजति**) प्राप्त होती है (**एकस्य**) किसी को (**सा एव**) वही हिंसा (**तीव्रं**) तीव्र (**फलं**) फल (**दिशति**) दिखाती है और (**अन्यस्य**) किसी दूसरे को (**सा एव**) वही हिंसा (**मन्दम्**) मन्द फल देती है।

अर्थ—एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी, फल देने के समय में उदयकाल में इस विचित्रता को प्राप्त होती है। किसी एक को वही हिंसा तीव्रफल दिखलाती है और किसी दूसरे को वही हिंसा मन्दफल देती है।

अन्वयार्थ पिछले श्लोक में कथित भाव को यहाँ पुनः दर्शाया है। दो पुरुषों ने बाह्य-द्रव्यहिंसा तो एक साथ मिलकर की, परन्तु उस एक हिंसा का फल दोनों को तीव्र और मन्द रूप उनकी भाव-हिंसा के अनुसार भोगना पड़ेगा। वह कैसे उनमें से एक पुरुष ने तो तीव्र कषाय भाव से द्रव्य हिंसा की, उसकी भावहिंसा अधिक होने से उसे उदयकाल में तीव्रफल मिलेगा। दूसरे पुरुष ने मन्द कषाय भाव से द्रव्यहिंसा की, उसकी भावहिंसा मन्द होने से उसे उदयकाल में मन्दफल मिलेगा। इस प्रकार कर्मों के फल की मन्दता/तीव्रता जीव के मन्द/तीव्र भावों पर निर्भर है। यहाँ भी पुनः भावों की ही प्रधानता है।

चौथा सूत्र—कषाय भाव अनुसार हिंसा का फल –

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृताऽपि ।
आरम्य कर्तुमकृताऽपि फलति हिंसानुभावेन ॥
॥ ४-१८-५४ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसा**) कोई हिंसा (**प्राक् एव**) पहले ही (**फलति**) फल देती है, कोई (**क्रियमाणा**) करते-करते (**फलति**) फल देती है, कोई (**कृता अपि**) कर लेने के बाद (**फलति**) फल देती है (**च**) और कोई (**कर्तुम्आरम्य**) हिंसा करने का आरम्भ करके (**अकृता अपि**) न किये जाने पर भी (**फलति**) फल देती है, इस प्रकार (**हिंसा**) हिंसा (**अनुभावेन**) कषायभाव अनुसार ही फल देती है ।

अर्थ—कोई हिंसा पहले फल देती है, कोई करते-करते फल देती है, कोई कर लेने के बाद फल देती है और कोई हिंसा करने का आरम्भ करके न किये जाने पर भी फल देती है ।

विशेषार्थ—द्रव्यहिंसा पहले हो, बाद में हो, उसी समय हो अथवा न भी हो, फल तो भावहिंसा—कषायभाव अनुसार भोगना ही पड़ता है । इसी का स्पष्टीकरण—

(१) किसी जीव ने हिंसा करने का विचार किया, परन्तु किसी कारणवश द्रव्यहिंसा करने में असफल रहा । कषायभावों के कारण जो कर्मबन्ध हुआ था, कालान्तर से उसका फल उदय में आया । तत्पश्चात् जो विचार किया था वह इच्छित द्रव्यहिंसा करने में भी समर्थ हो गया । इस प्रकार द्रव्यहिंसा से पहले ही उसका फल भोगने में आ गया ।

(२) किसी जीव ने हिंसा करने का विचार किया, परन्तु किसी कारणवश द्रव्यहिंसा न कर सका । कषाय भावों के कारण जो कर्म-बन्ध किया था कालान्तर में वह उदय में आया तथा उसी समय वह इच्छित द्रव्यहिंसा करने में भी सफल हो गया, इस प्रकार द्रव्यहिंसा करते समय ही उसका फल भोगने में आ गया ।

(३) किसी जीव ने हिंसा का विचार किया तथा विचार अनुसार द्रव्यहिंसा करने में भी सफल हो गया। कषायभावों के कारण जो कर्मबन्ध किया था, उसका उदय बाद में आया, इस प्रकार द्रव्यहिंसा के बाद फल भोगने में आया।

(४) किसी जीव ने हिंसा का विचार करके उसका आरम्भ किया, परन्तु किसी कारणवश सफल नहीं हो सका। कषायभावों के कारण जो कर्मबन्ध किया था, उसका फल तो उसे भोगना ही पड़ेगा। इस प्रकार हिंसा न करने पर भी फल भोगने में आयेगा।

इस प्रकार द्रव्यहिंसा हो या न हो, अथवा बाद में हो या पहले हो, भावहिंसा—कषायभावों के अनुसार फल तो अवश्य भोगना पड़ेगा।

पांचवा सूत्र—हिंसक एक, फलभोक्ता अनेक तथा हिंसक अनेक, फलभोक्ता एक—

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः॥
॥४-१९-५५॥

अन्वयार्थ—(**हिंसां**) हिंसा तो (**एकः**) एक पुरुष (**करोति**) करता है परन्तु (**फलभागिनः**) फल भोगने वाले (**बहवः**) बहुत हैं। इसी प्रकार (**हिंसां**) हिंसा तो (**बहवः**) बहुत पुरुष (**विदधति**) करते हैं, परन्तु (**हिंसाफलभुक्**) हिंसा का फल भोगने वाला (**एकः**) एक ही (**भवन्ति**) होता है।

अर्थ—हिंसा तो एक पुरुष करता है, परन्तु फल भोगने वाले बहुत होते हैं। इसी प्रकार हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं, परन्तु हिंसा का फल भोगने वाला एक ही है।

विशेषार्थ—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि—(१) द्रव्यहिंसा तो एक जीव करता है, परन्तु भावहिंसा के कारण उसका फल अनेक जीव पाते हैं। जैसे—कोई पुरुष अन्य पुरुष को मार रहा है, अन्य

दर्शक उसके इस हिंसक कार्य को अच्छा कहते हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में वे सर्व दर्शक रौद्र परिणाम करने के कारण पाप-कर्म का बन्ध करते हैं तथा कालान्तर से उसे भोगेंगे। इस प्रकार हिंसा एक ने की परन्तु फल अनेक लोगों ने भोगा। (२) द्रव्यहिंसा अनेक जीव करते हैं, परन्तु भावहिंसा के अभाव में उस हिंसा का फल एक ही जीव भोगता है। जैसे—युद्ध में हिंसा तो अनेक सैनिक करते हैं, परन्तु उस हिंसा का फल राज्य के प्रति स्वामित्व बुद्धि होने के कारण राजा को ही भोगना होगा। इस प्रकार हिंसा अनेक करते हैं परन्तु भोगने वाला एक है।

छठा सूत्र—किसी की हिंसा तो हिंसारूप और अन्य की हिंसा अहिंसारूप फल देती है—

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥
॥ ४-२०-५६ ॥

अन्वयार्थ—(**कस्यापि**) किसी पुरुष को तो (**हिंसा**) हिंसा (**फलकाले**) उदयकाल में (**एकमेव**) एक ही (**हिंसाफलम्**) हिंसा का फल (**दिशति**) देती है और (**अन्यस्य**) दूसरे किसी को (**सैव**) वही (**हिंसा**) हिंसा (**विपुलम्**) बहुत (**अहिंसाफलं**) अहिंसा का फल (**दिशति**) देती है।

अर्थ—किसी पुरुष को तो हिंसा उदयकाल में एक ही हिंसा का फल देती है और दूसरे किसी को वही हिंसा बहुत अहिंसा का फल देती है।

विशेषार्थ—कार्य का फल अन्तरंग परिणामों के अनुसार ही मिलता है। यहाँ हिंसा तो दोनों पुरुष कर रहे हैं, परन्तु एक को तो हिंसा का फल हिंसारूप (पापरूप) मिलता है तथा दूसरे को हिंसा का फल अहिंसा रूप (पुण्यरूप) मिलता है—

किसी पुरुष ने हत्या करने के अभिप्राय से किसी का पेट छुरे से फाड़ दिया। क्योंकि उसके अन्तरंग में हत्या करने के कषाययुक्त परिणाम थे, इसलिए उसे हिंसा का फल हिंसारूप (पापरूप) में ही भोगना पड़ेगा। दूसरी ओर एक डाक्टर दयाभाव से, किसी रोगी को ठीक करने के अभिप्राय से, उसके पेट की चीर-फाड़ कर रहा है, उस चीर-फाड़ से रोगी को पीडा भी पहुँच रही है, परन्तु डाक्टर का अभिप्राय रोगी को ठीक करने का है, कष्ट पहुँचाने का नहीं, इसलिए डाक्टर हिंसा करके भी अहिंसा के फल (पुण्य) का भागी है—

सातवाँ सूत्र – किसी की अहिंसा तो हिंसारूप और अन्य की हिंसा अहिंसारूप फल देती है—

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥
॥ ४-२१-५७ ॥

अन्वयार्थ—(**तु अपरस्य**) और अन्य किसी को (**अहिंसा**) अहिंसा (**परिणामे**) उदयकाल में (**हिंसाफलं**) हिंसा का फल (**ददाति**) देती है (**तु पुनः**) तथा (**इतरस्य**) दूसरे किसी को (**हिंसा**) हिंसा (**अहिंसाफलं**) अहिंसा का फल (**दिशति**) देती है (**अन्यत् न**) अन्य नहीं।

अर्थ—और अन्य किसी को अहिंसा उदयकाल में हिंसा का फल देती है तथा दूसरे किसी को हिंसा अहिभा का फल देती है, अन्य नहीं।

विशेषार्थ—एक व्यक्ति कार्य तो अहिंसा का करता है परन्तु फल हिंसा का पाता है और दूसरा व्यक्ति कार्य तो हिंसा का करता है पर फल अहिंसा का पाता है। किसी जीव के अन्तरंग में तो कपटभाव है और वह दूसरे का बुरा करना चाहता है, परन्तु बाह्य में विश्वास जमाने के लिये भला करता है अथवा संकट से बचाता है। पुण्योदय से दूसरे का भला हो जाता है अथवा उसका संकट दूर हो जाता है।

यहाँ बाह्य में तो दया की परन्तु अन्तरंग में हिंसा के परिणाम होने से उसका फल हिंसारूप (पापरूप) ही मिलेगा। दूसरी ओर माँ-बाप अथवा गुरुजन बच्चे की भलाई के लिए उसे डांटते हैं, दण्ड देते हैं, कदाचित् पीट भी देते हैं। बाह्य में तो वे हिंसारूप कार्य कर रहे हैं, बच्चे को पीड़ा भी होती है, परन्तु अन्तरंग में उस बच्चे के हित के परिणाम हैं, इसलिए हिंसा करते हुए भी फल अहिंसा का (पुण्यरूप) हो पायेंगे। इस प्रकार हिंसा/अहिंसा भाव-प्रधान है तथा फल उसी अनुसार प्राप्त होता है।

आठवां सूत्र—नयसमूह के ज्ञाता श्री गुरु ही शरण हैं—

इतिविविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥
॥ ४-२२-५८ ॥

अन्वयार्थ (**इति**) इस प्रकार (**सुदुस्तरे**) अत्यन्त कठिनाई से पार हो सकने वाले (**विविधभङ्गगहने**) अनेक प्रकार के भंग रूपी घने वन में (**मार्गमूढदृष्टीनाम्**) मार्ग भूले हुये पुरुष को (**प्रबुद्धनय-चक्रसञ्चाराः**) अनेक प्रकार के नय-समूह के ज्ञाता (**गुरवः**) श्री गुरु ही (**शरणं**) शरण (**भवन्ति**) होते हैं।

अर्थ— इस प्रकार अत्यन्त कठिनाई से पार हो सकने वाले अनेक भंगरूपी घने वन मे मार्ग भूले हुए पुरुष को अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता श्री गुरु ही शरण होते हैं।

विशेषार्थ—पिछले कुछ श्लोकों में हिंसा/अहिंसा के अनेक भंगों/भेदों का कथन किया गया है। किस कार्य में हिंसा/अहिंसा है? इसका फैसला नयों के यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं किया जा सकता। यहाँ उन अनेक भंगों को कठिनाई से पार हो सकने वाले वन की उपमा दी है। जैसे कोई मनुष्य वन में खो जाता है तो उसे जब तक सही मार्गदर्शक न मिले तब तक वह वन से बाहर नहीं निकल सकता,

वैसे ही अहिंसा/हिंसा के अनेक भंगों को, नयरूपी चक्रव्यूह के ज्ञाता, गुरु ही सही प्रकार समझा सकते हैं। किसी व्यक्ति की भावनाओं को जाने बिना यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि उसका अमुक कार्य हिंसारूप है अथवा अहिंसारूप। मनुष्य की बाह्य प्रवृत्ति के आधार से उसके अन्तरंग परिणामों का सही अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता कि उसका अभिप्राय अहिंसक है अथवा हिंसक। अतः हिंसा /अहिंसा का सही स्वरूप और रहस्य नाना नयों के जानने वाले गुरु से समझना चाहिए।

नयभेद समझना अति कठिन है—

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥
॥ ४-२३-५६ ॥

अन्वयार्थ—(**जिनवरस्य**) जिनेन्द्र भगवान् का (**अत्यन्तनिशितधारं**) अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला और (**दुरासदं**) दुःसाध्य (**नयचक्रम्**) नयचक्र (**धार्यमाणं**) धारण करने पर (**दुर्विदग्धानाम्**) मिथ्याज्ञानी पुरुषों के (**मूर्धानं**) मस्तक को (**झटिति**) तुरन्त ही (**खण्डयति**) खण्ड-खण्ड कर देता है।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला और दुःसाध्य नयचक्र धारण करने पर, मिथ्याज्ञानी पुरुषों के मस्तक को तुरन्त ही खण्ड-खण्ड कर देता है।

विशेषार्थ—जैन मत का नयभेद अत्यन्त कठिन तथा दुर्भेद्य है। उसको समझने के लिये प्रखर ज्ञान तथा विवेक की आवश्यकता है। अगर कोई अज्ञानी पुरुष जाने-समझे बिना चक्र (गोलाकार अस्त्र) का प्रयोग करे तो वह अपने अंगों को ही छेद डालेगा। ठीक यही स्थिति नयचक्र की है। अगर कोई अज्ञानी पुरुष भली प्रकार जाने-समझे विना नयरूपी चक्र का प्रयोग करता है तो वह लाभ के बदले हानि ही उठायेगा। इसलिये गुरुजनों से भली प्रकार समझकर नयों

का सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ताकि वस्तु के रहस्य और स्वरूप को भली प्रकार समझ सके।

हिंसा के त्याग का उपदेश—

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥
॥ ४-२४-६० ॥

अन्वयार्थ—(**अवगूहमानैः**) संवर में उद्यमी पुरुषों को (**हिंस्य-हिंसकहिंसाहिंसाफलानि**) हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फलों को (**तत्त्वेन**) यथार्थ रीति से (**अवबुध्य**) जानकर (**नित्यम्**) निरन्तर (**निजशक्त्या**) अपनी शक्ति अनुसार (**हिंसा**) हिंसा (**त्यज्यतां**) छोड़नी चाहिए।

अर्थ—संवर में उद्यमी पुरुषों को हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फलों को यथार्थ रीति से जानकर निरन्तर अपनी शक्ति अनुसार हिंसा छोड़नी चाहिए।

विशेषार्थ—इस श्लोक में हिंसा के त्याग का उपदेश है। जो जीव मोक्षमार्ग में बढ़ना चाहते हैं, अपना आत्मकल्याण करना चाहते हैं, उन्हें यथाशक्ति जितना ज्यादा से ज्यादा हो सके हिंसा का त्याग करना चाहिए। हिंसा का सम्यक्ज्ञान करने के लिए हिंसा के चार भाव—हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फल को यथार्थ रीति से जानना-समझना चाहिए।

(१) 'हिंस्य'—जिसकी हिंसा की जावे उसे हिंस्य कहते हैं। जैसे अपने या परजीव के भावप्राण अथवा द्रव्यप्राण। अथवा जहाँ-जहाँ जीव के उत्पन्न होने के स्थान हैं, उन्हें जानना ताकि जीव-हिंसा न हो।

(२) 'हिंसक'—प्रमाद भाव से या अयतनाचार रूप प्रवृत्ति के कारण हिंसा करने वाले अर्थात् घात करने वाले अथवा पीड़ा पहुँचाने वाले जीव को हिंसक कहते हैं।

(३) 'हिंसा'—प्रमाद भाव से हिंस्य का घात करना अथवा पीड़ा पहुँचाना हिंसा है।

(४) 'हिंसा का फल'—हिंसा के कारण जो पापरूप कर्मबन्ध होता है, उसके फल को हिंसाफल कहते हैं। इस लोक में निन्दा तथा राजदण्ड हिंसा का फल है तथा परलोक में नरक, निगोद, तिर्यंच आदि गति पाना। दुर्गतियों में महान दुःखों के समुदाय को चिरकाल-पर्यंत भोगना फल है।

इस प्रकार 'हिंस्य' को जानकर उसका घात न करे. 'हिंसक' को जानकर स्वयं हिंसक न बने, 'हिंसा' को जानकर उसका त्याग करे तथा 'हिंसा के फल' को जानकर उससे सदा भयभीत रहे।

हिंसा के त्याग के लिए प्रथम ही क्या करना चाहिए।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥
॥ ४-२५-६१ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसाव्युपरतिकामैः**) हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को (**प्रथममेव**) प्रथम ही (**मद्यं**) शराब (**मांसं**) मांस (**क्षौद्रं**) शहद और (**पञ्चोदुम्बरफलानि**) पाँच उदुम्बर फलों को (**यत्नेन**) यत्नपूर्वक (**मोक्तव्यानि**) त्याग देना चाहिए।

अर्थ—हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को प्रथम ही शराब, मांस, शहद और पाँच उदुम्बर फलों को यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए।

विशेषार्थ—जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहता है, उसे सर्व-प्रथम ही शराब, मांस, शहद और पाँच उदुम्बर फल—बड़फल, पीपलफल, पाकरफल, अंजीर और गूलर के सेवन का त्याग यत्न-पूर्वक करना चाहिये, क्योंकि इनके सेवन से असंख्यात त्रस जीवों की द्रव्यहिंसा तथा इन पदार्थों के सेवन के प्रति राग होने से भावहिंसा

भी होती है। इन पदार्थों के सेवन में क्या दोष है तथा हिंसा किस प्रकार होती है, इसका खुलासा आचार्यश्री स्वयं आगे के श्लोकों में करेंगे।

मद्य (शराब) के दोष—

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥

॥४-२६-६२॥

अन्वयार्थ—(**मद्यं**) शराब (**मनो मोहयति**) मन को मोहित करती है और (**मोहितचित्तः**) मोहित चित्त वाला पुरुष (**तु**) तो (**धर्मम्**) धर्म को (**विस्मरति**) भूल जाता है तथा (**विस्मृतधर्मा**) धर्म को भूला हुआ (**जीवः**) जीव (**अविशङ्कम्**) निःशंक—निडर होकर (**हिंसाम्**) हिंसा का (**आचरति**) आचरण करता है।

अर्थ शराब मन को मोहित करती है, और मोहित चित्त वाला पुरुष तो धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव निडर होकर हिंसा का आचरण करता है।

विशेषार्थ—इस श्लोक में शराब पीने के दोषों का उल्लेख है। मदिरा मन को मोहित करती है अर्थात् बुद्धि को भ्रष्ट करती है। जिसका चित्त मोहित है वह अपने धर्म को भूल जाता है और निःशंक होकर उन्मत्त के समान आचरण करता है। वह विवेकहीन तथा निर्लज्ज हो जाता है, पत्नी और माता का अन्तर भी भूल जाता है, भक्ष्य-अभक्ष्य का ज्ञान खो देता है तथा उसकी क्रूर और हिंसक भावनायें जागृत हो जाती हैं। शराब के नशे में वेश्यागमन करता है, चोरी करता है, जुआ खेलता है। संसार का कौन सा व्यसन है जो शराबी जीव में उत्पन्न नहीं हो जाता है। अतः हिंसा के त्याग के लिये मदिरापान का अवश्य त्याग करना चाहिये।

मदिरा हिंसा का साक्षात् कारण—

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।।
।।४-२७-६३।।

अन्वयार्थ—(**च**) और (**मद्यम्**) मदिरा (**रसजानां**) रस से उत्पन्न (**बहूनां**) बहुत (**जीवानां**) जीवों का (**योनिः**) उत्पत्ति स्थान (**इष्यते**) मानी जाती है। इसलिये जो (**मद्यं**) मदिरा (**भजतां**) पान करता है, उसके (**तेषां**) उन जीवों की (**हिंसा**) हिंसा (**अवश्यम्**) अवश्य हो (**संजायते**) होती है।

अर्थ—और मदिरा रस से उत्पन्न हुए बहुत जीवों का उत्पत्ति स्थान मानी जाती है। इसलिये जो मदिरापान करता है, उसके उन जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है।

विशेषार्थ—अब बताते हैं कि मदिरापान में हिंसा कैसे घटित होती है। मद्यपान में हिंसा का होना अनिवार्य है। अनेक पदार्थों के रस को सड़ाकर मदिरा का निर्माण किया जाता है। उस रस में अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है। उस रस को फिल्टर करके मदिरा बनाई जाती है, अतः अनन्त जीवों का घात होता है। मदिरा में भी निरन्तर जीवों की उत्पत्ति होती रहती है तथा अनेक जीव उसमें ही जन्म-मरण करते रहते हैं। मदिरा पीने वाला पुरुष उन समस्त जीवों को पी जाता है तथा महान हिंसा का भागी होता है। हिंसा से बचने के लिये मदिरापान का त्याग करना एकमात्र उपाय है।

मदिरापान से उत्पन्न होने वाली हिंसा—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ।।
।।४-२८-६४।।

अन्वयार्थ— (**अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः**) अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि

(**हिंसायाः**) हिंसा की (**पर्यायाः**) पर्यायें हैं (**च**) और (**सर्वेऽपि**) यह सभी (**सरकसन्निहिताः**) मदिरा के निकटवर्ती हैं।

अर्थ—अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि हिंसा की पर्यायें हैं और यह मदिरा के निकटवर्ती हैं।

विशेषार्थ—मदिरापान करने वाला पुरुष हर प्रकार का विवेक खो देता है। उसमें अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम तथा क्रोधादि कषाय निरंकुश उत्पन्न होती हैं। रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है, इसलिये उपर्युक्त सभी विकार हिंसा ही हैं। शराबी मनुष्य में इनका उत्पन्न होना अनिवार्य है। मदिरा-पान करने से वह तीव्र रूप से प्रकट होती है तथा तीव्र पापबन्ध का कारण बनती हैं, जिनका फल महान दुःख रूप हो है। इसलिये मदिरापान का ही नहीं, अन्य मादक पदार्थों का भी त्याग करना हमारे लिए उपकारी है।

मांसाहार में हिंसा—

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥
॥ ४-२९-६५ ॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात्**) क्योंकि (**प्राणिविघातात् विना**) प्राणियों का घात किये बिना (**मांसस्य**) मांस की (**उत्पत्तिः**) उत्पत्ति (**न इष्यते**) नहीं मानी जा सकती (**तस्मात्**) इसलिए (**मांसं भजतः**) मांस खाने वाले जीव के (**अनिवारिता**) अनिवार्य रूप से (**हिंसा**) हिंसा (**प्रसरति**) फैलती है।

अर्थ—क्योंकि प्राणियों का घात किये बिना मांस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, इसलिये मांस खाने वाले जीव के अनिवार्य रूप से—अवश्य ही हिंसा फैलती है—लगती है।

विशेषार्थ—फल-सब्जी के समान वृक्षों पर अथवा भूमि में मांस उत्पन्न नहीं होता। वह तो दो-इन्द्रिय आदि जीवों के शरीर का भाग

है, उनके शरीर में ही होता है। जब उनके शरीरों का घात किया जाता है, तभी मांस की प्राप्ति होती है। प्राणियों का वध किए विना मांस अन्य किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता। अतः मांस-भक्षण महान हिंसा का का कार्य है, पाप की चरम सीमा है।

क्या स्वयं मरे हुये जीव का मांस खाने में हिंसा नहीं?—

यद्यपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्॥
॥ ४-३०-६६ ॥

अन्वयार्थ— (**यदपि**) यद्यपि (**किल**) यह सत्य है कि (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**मृतस्य**) मरने वाले (**महिषवृषभादेः**) भैंस, बैल इत्यादि का (**मांसं**) मांस (**भवति**) होता है, परन्तु (**तत्रापि**) वहाँ भी अर्थात् उस मांस के खाने में भी (**तदाश्रितनिगोतनिर्मंथनात्**) उसके आश्रय रहने वाले उसी जाति के निगोदिया जीवों के घात से (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) होती है।

अर्थ—यद्यपि यह सत्य है कि अपने आप ही मरने वाले भैंस, बैल इत्यादि का मांस होता है, परन्तु वहाँ भी अर्थात् उस मांस के खाने में भी उसके आश्रय से रहने वाले उसी जाति के निगोदिया जीवों के घात से हिंसा होती है।

विशेषार्थ—क्या अपनी स्वाभाविक मृत्यु से मरे हुये भैंस इत्यादि जीवों का मांस खाने में भी हिंसा है? हां! अपने आप मरे हुये गाय-भैंस इत्यादि जीवों का मांस खाने में भी हिंसा का महान पाप है। क्योंकि उस जीव के शरीर के आश्रय से उसी जाति के अनन्त सूक्ष्म सम्मूर्छन जीव रहते हैं। जीव की मृत्यु के पश्चात् भी उसके मांस में अनन्त निगोदिया जीवों की उत्पत्ति निरन्तर होती है। अतः मृतक शरीर का मांस भक्षण करने में भी उन सभी अनन्त जीवों का घात होने से हिंसा अवश्य होती है। इसलिये स्वयं मरे हुए जीवों का मांस भी नहीं खाना चाहिए।

प्रत्येक अवस्था में मांस में निगोद जीवों की उत्पत्ति–

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥
॥ ४-३१-६७ ॥

अन्वयार्थ—(**आमासु**) कच्चे अथवा (**पक्वासु**) पके हुये (**अपि**) तथा (**विपच्यमानासु**) पकते हुये (**मांसपेशीषु**) मांस के टुकड़ों में (**अपि**) भी (**तज्जातीनां**) उसी जाति के (**निगोतानाम्**) सम्मूर्छन जीवों का (**सातत्येन**) निरन्तर (**उत्पादः**) उत्पाद होता है ।

अर्थ—कच्चे अथवा पके हुये तथा पकते हुए मांस के टुकड़ों में भी उसी जाति के सम्मूर्छन जीवों का निरन्तर उत्पाद होता है ।

विशेषार्थ—पूर्व में बताया गया था कि मांस में उसी जाति के अनन्त सूक्ष्म निगोदी जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । ठीक यही दशा उस मांस की भी है जो कच्चा है, अथवा पका हुआ है या पक रहा है । अर्थात् मांस की सर्व अवस्थाओं में उसी मांस की जाति के अनन्त सूक्ष्म निगोदी जीव समय-समय पर निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । कुछ मांसभक्षी लोगों के मन में यह भ्रान्ति है कि पका हुआ मांस निर्जीव होता है, अतः उसके खाने में कोई पाप नहीं है । वास्तव में यह बिलकुल गलत धारणा है । मांस की प्रत्येक अवस्था जीवयुक्त है, निरन्तर जीव-उत्पत्ति का स्थान है, अतः उसका भक्षण हिंसा होने से महापाप का कारण है ।

मांस भक्षण से हिंसा होती है—

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥
॥ ४-३२-६८ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो पुरुष (**आमां**) कच्चे (**वा**) अथवा (**पक्वां**) अग्नि पर पके हुये (**पिशितपेशीम्**) मांस के टुकड़े को (**खादति**)

खाता है (वा) अथवा (स्पृशति) छूता है (सः) वह पुरुष (सतत-निचितं) निरन्तर इकट्ठे हुये (बहुजीवकोटीनाम्) अनेक जाति के जीव-समूह के (पिण्डं) पिण्ड का (निहन्ति) घात करता है।

अर्थ—जो पुरुष कच्चे अथवा अग्नि पर पके हुये मांस के टुकड़ों को खाता है अथवा छूता है, वह पुरुष निरन्तर इकट्ठे हुये अनेक जाति के जीव-समूह के पिण्ड का घात करता है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक में बताया था कि मांस की सर्व अवस्थाओं में उसी जाति के अनन्त सूक्ष्म जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इस श्लोक में बता रहे हैं कि जो पुरुष कच्चे अथवा पके हुये मांस का भक्षण करता है, या हाथ से स्पर्श करता है तो उस मांस में इकट्ठे हुये जीव-समूह के पिण्ड का घात अवश्य करता है। इस प्रकार उन जीवों के घात से महान हिंसा होती है। अतः हिंसा के पाप से बचने के लिये मांस का त्याग अवश्य करना चाहिये। इतना ही नहीं, अन्य जिन पदार्थों में भी बहुत जीवों की उत्पत्ति होती है उन्हें भी त्यागना चाहिये।

मधु के दोष—

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥
॥४-३३-६९॥

अन्वयार्थ—(**लोके**) इस लोक में (**मधुशकलमपि**) शहद की एक बूंद भी (**प्रायः**) बहुधा (**मधुकरहिंसात्मकं**) मधुमक्खियों की हिंसा रूप (**भवति**) होती है, इसलिये (**यः**) जो (**मूढधीकः**) मूढ़बुद्धि मनुष्य (**मधु**) शहद (**भजति**) खाता है (**सः**) वह (**अत्यन्तम्**) अत्यन्त—घोर (**हिंसकः**) हिंसा करने वाला (**भवति**) होता है।

अर्थ—इस लोक में शहद की एक बूंद भी बहुधा मक्खियों की हिंसारूप होती है, इसलिये जो मूढ़बुद्धि मनुष्य शहद खाता है, वह अत्यन्त—घोर हिंसा करने वाला है।

विशेषार्थ—मधुमक्खियाँ दिन भर घूम-घूम कर फूलों का रस चूसकर छत्ते में वमन (उल्टी) करती रहती हैं। वह रस छत्ते में सड़ता रहता है तथा उसमें असंख्यात जीव उत्पन्न हो जाते हैं। शहद निकालने के लिये छत्ते को तोड़कर निचोड़ते हैं, जिससे मधुमक्खियाँ, उनके अण्डे, बच्चे तथा रस में उत्पन्न हुये असंख्यात जीवों का घात होता है तथा उनका रस भी शहद में मिल जाता है।

प्रथम तो मधुमक्खियों का वमन होने से शहद महाघृणित और अभक्ष्य पदार्थ है। दूसरे असंख्यात जीवों की उत्पत्ति का स्थान होने से शहद-भक्षण में उन जीवों की हिंसा का दोष लगता है। तीसरे—शहद में अनेक जीवों का रस मिला होने से मांस-भक्षण का दोष लगता है। इस प्रकार शहद भक्षण घोर हिंसा का कारण होने से त्यागने योग्य है।

स्वयं टपके हुये मधु में भी हिंसा है—

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥
॥ ४-३४-७० ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो कोई (**मधुगोलात्**) मधु-छत्ते से (**छलेन**) छल से (**वा**) अथवा (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**विगलितं**) टपके हुये मधु का (**गृह्णीयात्**) ग्रहण करता है (**तत्रापि**) वहां भी (**तदाश्रय**) उसके आश्रयभूत (**प्राणिनां**) जीवों के (**घातात्**) घात से (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) होती है।

अर्थ—जो कोई मधुछत्ते से, छल से अथवा अपने आप ही टपकते हुये मधु का ग्रहण करता है, वहाँ भी उसके आश्रयभूत जीवों के घात से हिंसा होती है।

विशेषार्थ—कुछ लोग ऐसा मानने हैं कि आधुनिक पद्धति से पाली हुई मधुमक्खियों से अथवा स्वयं बूंद-बूंद करके टपके हुये शहद के ग्रहण में कोई दोष नहीं है। परन्तु ऐसी मान्यता सर्वथा गलत है।

रस के सड़ने से उसमें असंख्यात जीवों की उत्पत्ति तो हर अवस्था में होती है। शहद के सेवन से उनका घात तो अनिवार्य है। इसलिये हर प्रकार के मधु का त्याग अहिंसा के पालन के लिये अतिआवश्यक है।

मधु, मदिरा, मक्खन और मांस को व्रती पुरुष न खाये—

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र॥
॥ ४-३५-७१ ॥

अन्वयार्थ—(**मधु**) शहद (**मद्यं**) मदिरा (**नवनीतं**) मक्खन (**च**) और (**पिशितं**) मांस (**महाविकृतयः**) महान दोषों से युक्त हैं (**तत्र**) उनमें (**तद्वर्णा**) उसी जाति और रंग के (**जन्तवः**) जीव रहते हैं, इसलिये (**ताः**) इन पदार्थों को (**व्रतिना**) व्रती पुरुष को (**न वल्भ्यन्ते**) नहीं खाना चाहिये।

अर्थ—शहद, मदिरा, मक्खन और मांस महान दोषों से युक्त हैं, उनमें उसी जाति और रंग के जीव रहते हैं, इसलिये व्रती पुरुषों को इन पदार्थों को नहीं खाना चाहिये।

विशेषार्थ—पिछले श्लोकों में शहद, मदिरा और मांस-भक्षण क दोषों का विस्तार से वर्णन किया गया है। मक्खन की भी यही स्थिति है। ये सभी पदार्थ जीवों की उत्पत्ति का स्थान होने से दूषित—विकारी हैं। शहद में, मदिरा में, मक्खन में तथा मांस में, उसी जाति और उसी रंग के बहुत जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इनके भक्षण से उन जीवों का घात होता है। इसलिये व्रती पुरुषों को इनका तथा अन्य भी पदार्थ जो जीव की उत्पत्ति के स्थान हैं, उनका त्याग अवश्य करना चाहिए।

पाँच उदुम्बर फल के दोष—

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा॥
॥ ४-३६-७२ ॥

अन्वयार्थ—(**उदुम्बरयुग्मं**) ऊमर, कठूमर (**प्लक्षन्यग्रोधपिप्पल-फलानि**) पाकर बड़ और पीपल वृक्ष के फल (**त्रस जीवानां**) त्रस जीवों की (**योनिः**) खान हैं (**तस्मात्**) इसलिये (**तद्भक्षणे**) उनके खाने में (**तेषां**) उन त्रस जीवों की (**हिंसा**) हिंसा होती है।

अर्थ—ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़ और पीपल वृक्ष के फल त्रस जीवों की खान हैं, इसलिये उनके खाने में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।

विशेषार्थ—मधु, मांस, मद्य और मक्खन के समान पांच उदुम्बर फल अर्थात् ऊमर (गूलर), कठूमर (जंगली गूलर-फनस इत्यादि), पाकर (अंजीर) तथा बड़ और पीपल के फल भी अनन्त त्रसजीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं, जिनका मरण भी निरन्तर वहीं होता रहता है। किसी-किसी फल में तो उन्हें उड़ते हुये भी देखा जा सकता है। इन का भक्षण करने से भी त्रस जीवों की हिंसा होती है, अतः अहिंसा पालन हेतु पंच उदुम्बर फलों का त्याग भी करना चाहिये।

त्रस जीव रहित सूखे उदुम्बर फल के खाने में भी हिंसा है—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥
॥ ४-३७-७३ ॥

अन्वयार्थ—(**यानि**) जो पांच उदुम्बर फल (**कालोच्छिन्न-त्रसाणि**) काल बीतने पर त्रस जीव रहित (**शुष्काणि भवेयुः**) सूख गये हों (**तु पुनः**) तो फिर (**अपि**) भी (**तानि**) उनके (**भजतः**) खाने वाले को (**विशिष्टरागादिरूपा**) विशेष रागादि रूप (**हिंसा**) हिंसा (**स्यात्**) होती है।

अर्थ—जो पांच उदुम्बर फल काल बीतने पर त्रस जीव रहित सूख गये हों, तो फिर भी उनके खाने वाले को विशेष रागादि रूप हिंसा होती है—लगती है।

विशेषार्थ—जो उदुम्बर फल यथासमय सूख जाते हैं, वह त्रस जीवों से तो रहित हो जाते हैं परन्तु व्रती पुरुषों को उनको नहीं खाना चाहिये। क्योंकि उनके खाने में भी हिंसा होती है। हिंसा कैसे होती है?—जैसे किसी ने पदार्थ को विकारी जान कर हरी अवस्था में तो नहीं खाया, परन्तु पदार्थ में रागभाव होने के कारण उसे सुखा कर खाया। यदि रागभाव न हो तो पदार्थ को सुखाकर क्यों खाये। किसी भी पदार्थ का ग्रहण रागभाव के विना नहीं होता। जहाँ राग-भाव है वहाँ हिंसा अवश्य होती है। अतः सुखाये हुए उदुम्बर फलों को खाने में उनके प्रति 'राग विशेष' होने के कारण हिंसा होती है। इसके अलावा सूखे हुये फलों में त्रस जीवों के शरीर सूख जाते हैं, इसलिये भी अभक्ष्य है।

प्रश्न—यदि सूखी वस्तु में भी दोष है, तो अन्न खाना भी हिंसा है? समाधान—नहीं, क्योंकि गेहूँ-चना इत्यादि अन्न तो रागभाव के विना सहज ही अपने समय पर सूख जाते हैं। उनको तो पेट भरने तथा शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिये विना किसी रागभाव के खाया जाता है। अतः राग का अभाव होने से उनके खाने में हिंसा का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

अष्टमूल गुण धारी जीव ही उपदेश के पात्र हैं—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥

॥ ४-३८-७४ ॥

अन्वयार्थ—(**अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि**) दुःखदायक, दुस्तर, और पाप के स्थान (**अमूनि**) इन (**अष्टौ**) आठ पदार्थों का (**परिवर्ज्य**) सर्वथा त्याग करके (**शुद्धधियः**) निर्मल बुद्धि वाले पुरुष (**जिनधर्मदेशनायाः**) जैनधर्म के उपदेश के (**पात्राणि**) पात्र (**भवन्ति**) होते हैं।

अर्थ—दु:खदायक, दुस्तर और पाप के स्थान—इन आठ पदार्थों का सर्वथा त्याग करके निर्मल बुद्धि पुरुष जैनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

विशेषार्थ—मधु, मांस, मद्य तथा पाँच उदुम्बर फल—ये आठों पदार्थ विकारी होने से महादु:खमय और जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे महापाप के कारण है। इनके खाने से महान्‌हिंसा का पाप लगता है। इनका सर्वथा त्याग करने पर ही जीव में निर्मल बुद्धि उत्पन्न होती है, तभी वह जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है। इन आठ पदार्थों के त्याग को अष्ट मूलगुण धारण करना भी कहते हैं। जैसे 'मूल'—जड़ के विना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही अष्ट मूलगुण धारण किये विना 'श्रावक' नहीं होता। अष्ट मूलगुण धारण करने के बाद ही वह श्रावक कहलाला है और तभी उपदेश का पात्र बनता है।

हिंसादि के त्याग करने का विधान—

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा॥
॥ ४-३९-७५ ॥

अन्वयार्थ—(**औत्सर्गिकी निवृत्तिः**) उत्सर्गरूप अर्थात् सामान्य त्याग (**कृतकारितअनुमननैः**) कृत, कारित और अनुमोदन रूप तथा (**वाक्कायमनोभिः**) मन, वचन और काय के भेद से (**नवधा**) नौ प्रकार का (**इष्यते**) माना गयाा है (**तु**) और (**एषा**) यह (**अप-वादिकी**) अपवादरूप त्याग (**विचित्ररूपा**) अनेक प्रकार है।

अर्थ—उत्सर्गरूप अर्थात् सामान्य त्याग कृत, कारित और अनु-मोदन रूप तथा मन, वचन और काय के भेद से नौ प्रकार का माना गया है; और यह अपवाद रूप त्याग अनेक प्रकार है।

विशेषार्थ—हिंसादि पाँच पापों का त्याग दो प्रकार से होता है। एक 'उत्सर्ग' तथा दूसरा 'अपवाद' त्याग। उत्सर्ग अर्थात् सामान्य

त्याग—सर्वथा त्याग, मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना द्वारा नवकोटि से किया जाता है। मन से, वचन से, काय से पाप स्वयं न कराना, दूसरे से न कराना तथा करने वाले को भला नहीं मानना—ये नौ भेद नवकोटि कहलाते हैं। नवकोटि द्वारा किया गया पापों का त्याग ही उत्सर्ग/उत्कृष्ट त्याग है। कुछ कोटियों से त्याग करना 'अपवाद' त्याग है। इसके अनेक भेद हैं। शक्ति अनुसार जितना संभव हो त्याग अवश्य करना चाहिए।

हिंसा त्याग के दो प्रकार—

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु॥
॥ ४-४०-७६ ॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जीव (**अहिंसारूपं**) अहिंसारूप (**धर्मम्**) धर्म को (**संशृण्वन्तः अपि**) भले प्रकार सुनकर भी (**स्थावरहिंसाम्**) स्थावर जीवों की हिंसा (**परित्यक्तुम्**) छोड़ने को (**असहाः**) असमर्थ हैं (**ते अपि**) वे जीव भी (**त्रसहिंसां**) त्रस जीवों को हिंसा (**मुञ्चन्तु**) त्याग दें।

अर्थ—जो जीव अहिंसारूप धर्म को भले प्रकार सुनकर भी स्थावर जीवों की हिंसा छोड़ने को असमर्थ हैं, वे जीव भी त्रस जीवों की हिंसा त्याग दें।

विशेषार्थ—जैनधर्म का मूल हिंसा का त्याग है। वह त्याग दो प्रकार से होता है। एक तो सर्वथा त्याग तथा दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो दिगम्बर मुनिराज करते हैं, उसे अंगीकार करना चाहिए। उसका स्वरूप भली प्रकार सुनकर भी कदाचित् कषायों की प्रबलता होने के कारण सर्वथा त्याग न बन सके तो त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करके एकदेश श्रावक धर्म को अवश्य अंगीकार करना चाहिए। संसारी जीवों के गति-जाति इत्यादि की अपेक्षा अनेक भेद हैं, परन्तु मुख्यरूप से 'स्थावर' और 'त्रस' के भेद से दो प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक

को एक स्पर्शन इन्द्रिय सहित होने से स्थावर जीव कहते हैं। दो इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय तक के जीवों को त्रस जीव कहते हैं। कौड़ी, शंख, कीड़ी, मकोड़ा, मक्खी, भौंरा, मनुष्य इत्यादि इनके अनेक भेद हैं। स्थावर और त्रस जीवों के अनेक भेदों को भली प्रकार जानकर इनकी रक्षा करनी चाहिए।

श्रावक को स्थावर-हिंसा में भी स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए—

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्॥
॥ ४-४१-७७ ॥

अन्वयार्थ—(**सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्**) इन्द्रियों के विषयों को न्यायपूर्वक सेवन करने वाले (**गृहिणां**) गृहस्थों को (**स्तोकैकेन्द्रिय-घातात्**) अल्प एकेन्द्रिय के घात के अतिरिक्त (**शेषस्थावरमारण-विरमणमपि**) शेष स्थावर जीवों के मारने का त्याग भी (**करणीयम्**) करने योग्य (**भवति**) है।

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों को न्यायपूर्वक सेवन करने वाले गृहस्थों को अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त शेष स्थावर जीवों के मारने का त्याग भी करने योग्य है।

विशेषार्थ—एकदेश हिंसा का त्यागी श्रावक एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं होता। पंचेन्द्रिय के विषयों का सेवन करने में यतनाचारपूर्वक योग्य रीति से कार्य करते हुए भी एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा अनिवार्य है अर्थात् होती ही है। इस अनि-वार्य हिंसा के अतिरिक्त उन्हें अन्य स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग अवश्य करना चाहिए। व्यर्थ और असावधानीपूर्वक कार्य करके स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। इसका विशेष वर्णन अनर्थदण्ड के अन्तर्गत आगे करेंगे।

अहिंसाधर्म का पालन करने वाले सावधान हों—

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥

॥ ४-४२-७८ ॥

अन्वयार्थ—(**अमृतत्वहेतुभूतं**) अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत (**परमम्**) उत्कृष्ट (**अहिंसारसायनं**) अहिंसारूपी रसायन को (**लब्ध्वा**) प्राप्त करके (**बालिशानाम्**) अज्ञानी जीवों का (**असमञ्जसम्**) अनुचित आचरण (**अवलोक्य**) देखकर (**आकुलैः**) व्याकुल (**न भवितव्यम्**) नहीं होना चाहिये ।

अर्थ—अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूप रसायन को प्राप्त करके अज्ञानी जीवों का अनुचित आचरण देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिये ।

विशेषार्थ—कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि कोई मिथ्यादृष्टि अधर्मी व्यक्ति हिंसा रूपी पाप कार्यों में रत होते हुये भी अनेक प्रकार की धन-सम्पदा से सम्पन्न नाना सुखों को भोगता हुआ पाया जाता है । तथा अन्य कोई धर्मात्मा व्यक्ति अहिंसा धर्म का आचरण करते हुये भी नाना आपत्ति-विपत्तियों से घिरा हुआ देखा जाता है । यहाँ आचार्यश्री सावधान करते हैं कि धर्मात्मा जीवों को आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए तथा अधर्मी जीवों की लुभावनी बातें सुनकर अथवा किसी प्रलोभन के कारण विचलित होकर अपने अहिंसामय धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए । वह अधर्मी जीव अपने पूर्व उपार्जित पुण्य कर्मों का फल भोग रहा है । वर्तमान में जो पापरूप कर्म कर रहा है, उनका फल तो भविष्य में दुःखमय ही होगा । अतः कर्मों की पाप/पुण्य उदय अवस्था को जानकर/विचार कर किसी भी धर्मात्मा जीव को अहिंसामय धर्म जो कि मोक्ष का कारणभूत है, उसका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ।

पुनः सावधान करते हैं—

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥
॥ ४-४३-७९ ॥

अन्वयार्थ—(**भगवद्धर्मः**) जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ धर्म (**सूक्ष्मः**) सूक्ष्म है, अतः (**धर्मार्थं**) धर्म के निमित्त से (**हिंसने**) हिंसा करने में (**दोषः**) दोष (**नास्ति**) नहीं है (**इति धर्ममुग्धहृदयैः**) ऐसा धर्म में मूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदय वाले (**भूत्वा**) होकर (**शरीरिणः**) शरीरधारी जीवों को (**जातु**) कभी भी (**न हिंस्याः**) नहीं मारना चाहिए।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ धर्म सूक्ष्म है, अतः 'धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है'—ऐसा धर्म में मूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाले होकर शरीरधारी जीवों को कभी भी नहीं मारना चाहिये।

विशेषार्थ—यदि कोई अज्ञानी अधर्मी जीव ऐसा कहे कि 'जिनेन्द्र भगवान् कथित धर्म तो बहुत गूढ़ और सूक्ष्म है, और जगह तो हिंसा करना पापरूप ही है, परन्तु यज्ञादि धर्म कार्यों के निमित्त से जीवों की आहुति देने में कोई हिंसा नहीं होती।' इस प्रकार के धर्मविरुद्ध कथन सुनकर धर्मात्मा पुरुषों को धोखे में नहीं आना चाहिए, क्योंकि जहां हिंसा है वहां धर्म कदापि नहीं हो सकता। इसलिये धर्म के स्वरूप को न जानते हुये, मूढ़तावश धर्म के नाम पर हिंसा नहीं करनी चाहिये।

यहां प्रश्न होता है कि मन्दिर-निर्माण, पूजा-प्रतिष्ठा आदि कार्यों में भी तो हिंसा होती है, उनमें धर्म है या नहीं? समाधान—यदि यह कार्य यतनाचारपूर्वक सावधानी से धर्मबुद्धिवश किये जायें तो पुण्य-बन्ध के कारण हैं और यदि यतनाचार रहित लापरवाही से किये जायें अथवा मान कषाय के अधीन होकर केवल मान-प्रतिष्ठा के लिये किये जायें तो अवश्य पाप रूप ही हैं। यद्यपि इन कार्यों में

आरम्भ-जनित हिंसा होती है, परन्तु वह हिंसा धर्मानुराग से होने वाले पुण्यबन्ध की अपेक्षा नगण्य है। पुण्यबन्ध विशेष होता है। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य उपर्युक्त कार्यों में अपना धन व्यय करता है वह अन्तरंग में लोभ कषाय का त्याग तो करता ही है। हिंसा का मूल कारण तो कषाय है, अतः मन्दिरादि-निर्माण तथा पूजा-प्रतिष्ठा आदि कार्यों में कषाय का त्याग होने से पुण्य रूपी धर्म ही होता है।

देवी-देवताओं के निमित्त से भी हिंसा नहीं करनी चाहिये—

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥

॥ ४-४४-८० ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय ही (**धर्मः**) धर्म (**देवताभ्यः**) देवों से (**प्रभवति**) उत्पन्न होता है, अतः (**इह**) इस लोक में (**ताभ्यः**) उनके लिये (**सर्वम्**) सब कुछ (**प्रदेयम्**) दे देना चाहिए (**इति**) ऐसे (**दुर्विवेककलितां**) अविवेक से ग्रसित (**धिषणां**) बुद्धि (**प्राप्य**) प्राप्त करके (**देहिनः**) देहधारी जीवों को (**न हिंस्याः**) नहीं मारना चाहिये।

अर्थ—"निश्चय ही धर्म देवों से उत्पन्न होता है, अतः इस लोक में उनके लिये सब कुछ दे देना चाहिए"—ऐसे अविवेक से ग्रसित बुद्धि प्राप्त करके देहधारी जीवों को नहीं मारना चाहिए।

विशेषार्थ कई अज्ञानी अधर्मी लोगों का ऐसा कथन है कि 'धर्म तो देवी-देवताओं से उत्पन्न होता है, अतः उन्हें प्रसन्न करने/रखने के लिए भैंसा, मुर्गा, बकरा अथवा मनुष्य को बली दे देनी चाहिए।' उनका यह कथन महामूर्खता तथा अविवेक से भरा हुआ है। पर जीवों को मरवाने अथवा मारने में किसी का भला कैसे हो सकता है। पुण्यरूप 'देव' पद पर आसीन कौन ऐसे देवी-देवता हैं जो मूक निर्दोष प्राणियों के रक्त के प्यासे होंगे अथवा उनके घात से प्रसन्न होंगे ? अर्थात् कोई नहीं हैं। देवी-देवताओं के नाम पर जीवों का

घात करना महान भ्रान्ति है, महान हिंसा है अतः घोर पाप का कारण है। प्राणी-घात में कभी भी धर्म नहीं हो सकता। इसलिये मूढ़तावश देवी-देवताओं के निमित्त से भी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

परजीव के घात से अपना भला नहीं हो सकता—

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥
॥ ४-४५-८१ ॥

अन्वयार्थ—(**पूज्यनिमित्तं**) पूज्य पुरुषों के लिये (**छागादीनां**) बकरा इत्यादि जीवों का (**घाते**) घात करने में (**कः अपि**) कोई भी (**दोषः**) दोष (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) ऐसा (**संप्रधार्य**) विचार कर (**अतिथये**) अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषों के लिए (**सत्त्व-संज्ञपनम्**) जीवों का घात (**न कार्यं**) नहीं करना चाहिए।

अर्थ—'पूज्य पुरुषों के लिये बकरा इत्यादि जीवों का घात करने में कोई भी दोष नहीं है'—ऐसा विचार करके अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषों के लिये जीवों का घात नहीं करना चाहिए।

विशेषार्थ—स्मृतिकारों का ऐसा मत है कि अतिथि-सत्कार के लिये अथवा घर में आये हुए पूज्य पुरुषों के भोजन के लिए बकरा अथवा बैल का घात करने में कोई पाप नहीं है। उनका ऐसा कथन सर्वथा धर्म-विरुद्ध है तथा महापाप का कारण है। अतिथि-सत्कार के निमित्त हिंसा करना भी महान अज्ञानता है। हिंसा तो हिंसा ही है चाहे वह किसी भी निमित्त से क्यों न की जाये। अतः अतिथि-सत्कार के लिये भी प्राणीघात नहीं करना चाहिये, क्योंकि हिंसारूप होने से वह भी पाप रूप हीहै।

चाहे जीव छोटा हो या बड़ा, एक हो या अनेक, किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये—

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥
॥ ४-४६-८२ ॥

अन्वयार्थ—(**बहुसत्त्वघातजनितात्**) बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए (**अशनात्**) भोजन की अपेक्षा (**एकसत्त्वघातोत्थम्**) एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन (**वरम्**) अच्छा है (**इति**) ऐसा (**आकलय्य**) विचार कर (**जातु**) कभी भी (**महासत्त्वस्य**) बड़े त्रस जीव का (**हिंसनं**) घात (**न कार्यं**) नहीं करना चाहिये।

अर्थ—'बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है'—ऐसा विचार करके कभी भी बड़े त्रस जीव का घात नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—कोई ऐसा कहे कि अन्न-फलादि के आहार में तो बहुत से जीव मरते हैं, इसलिये एक बड़ा जीव (गाय-भैंस आदि) मारकर खाना अच्छा है। उस अज्ञानी, अधर्मी जीव का यह कुतर्क महामूर्खतापूर्ण है। हिंसा तो प्राणघात से होती है। एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के द्रव्यप्राण तथा भाव-प्राण अधिक-अधिक पाये जाते हैं, अतः उनके घात में क्रमशः असंख्यात गुणा पाप है। इसके अतिरिक्त दो-इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को मारकर खाने में तो मांसाहार का दोष लगता है। अन्न और शाकाहार को त्यागकर छोटे-बड़े पशु-पक्षियों को मारकर भक्षण करना उचित नहीं।

हिंसक जीवों का भी घात नहीं करना चाहिये—

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥
॥ ४-४७-८३ ॥

अन्वयार्थ—(**अस्य**) इस (**एकस्य एव**) एक ही (**जीवहरणेन**) जीव का घात करने से (**बहूनाम्**) बहुत जीवों की (**रक्षा भवति**) रक्षा होती है (**इति मत्वा**) ऐसा मानकर (**हिंस्रसत्त्वानाम्**) हिंसक जीवों की भी (**हिंसनं**) हिंसा (**न कर्त्तव्यम्**) नहीं करनी चाहिए।

अर्थ—'इस एक ही जीव का घात करने से बहुत जीवों की रक्षा होती है'—ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

विशेषार्थ—सांप, बिच्छु, सिंह, चीता, भेड़िया इत्यादि अनेक हिंसक जीव हैं जो दूसरे जीवों का घात करते हैं अथवा काटकर शारीरिक पीड़ा पहुँचाते हैं, उनको मार डालने से अन्य अनेक जीवों की रक्षा हो जायेगी—ऐसा श्रद्धान कभी नहीं करना चाहिये। हिंसा करना ही पाप है। अगर हम हिंसक प्राणियों की उपर्युक्त अभिप्राय से भी हिंसा करते हैं तो भी हमें हिंसा का पाप ही लगेगा। इसमें पुण्यबन्ध का अंश भी नहीं है। जो जीव हिंसा करेगा तो उसका पाप वह स्वयं भोगेगा, हम उसकी हिंसा करके पाप के भागी क्यों बनें। इसके अतिरिक्त यदि हम हिंसक जीवों की हिंसा इसलिये करें कि वे अन्य जीवों की हिंसा करते हैं तो ऐसी अवस्था में हम स्वयं महा-हिंसक सिद्ध होंगे। हिंसक प्राणियों को मारना भी हिंसा है, अतः हिंसक प्राणियों का भी घात नहीं करना चाहिये।

दयाभाव से भी हिंसा न करे—

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥

॥ ४-४८-८४ ॥

अन्वयार्थ—(**बहुसत्त्वघातिनः**) बहुत जीवों के घातक (**अमी**) ये जीव (**जीवन्तः**) जीवित रहेंगे तो ((**गुरु पापम्**) बहुत पाप (**उपार्जयन्ति**) उपार्जित करेंगे (**इति**) इस प्रकार की (**अनुकम्पां कृत्वा**) दया करके (**हिंस्राः शरीरिणः**) हिंसक जीवों को (**न हिंसनीयाः**) नहीं मारना चाहिये।

अर्थ—'बहुत जीवों के घातक ये जीव जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे'—इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये।

विशेषार्थ—'बहुत से प्राणियों का घात करने वाले ये शिकारी, चिड़ीमार इत्यादि अनेक हिंसक जीव जब तक जीवित रहेंगे, तब तक हिंसा करके बहुत पाप-उपार्जन करेंगे, अतः इन्हें पापकर्म से बचाने के लिये मार देना चाहिये'—ऐसे दयाभाव से भी जीवों को नहीं मारना चाहिये। पापक्रिया का फल वे जीव स्वयं भोगेंगे। हमें उनकी हिंसा करके पाप का भागी नहीं बनना चाहिये। अगर संभव हो तो उनकी पापक्रिया छुड़ा देनी चाहिये।

दुःखों से पीड़ित जीवों को उनके दुःख दूर करने की वासना (मिथ्या विचार) से भी नहीं मारना चाहिये—

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥
॥ ४-४६-८५ ॥

अन्वयार्थ —(तु) और (**बहुदुःखासंज्ञपिताः**) अनेक दुःखों से पीड़ित जीव (**अचिरेण**) थोड़े ही समय में (**दुःखविच्छित्तिम्**) दुःखों से छुटकारा (**प्रयान्ति**) पा जावेंगे (**इति वासनाकृपाणीम्**) ऐसी वासनारूपी छुरी (**आदाय**) लेकर (**दुःखिनः अपि**) दुःखी जीवों को भी (**न हन्तव्याः**) नहीं मारना चाहिये।

अर्थ—'और अनेक दुःखों से पीड़ित जीव थोड़े ही समय में दुःखों से छुटकारा पाजावेंगे'—ऐसी वासना रूपी छुरी लेकर दुःखी जीवों को भी नहीं मारना चाहिये।

विशेषार्थ—मान लो कोई जीव रोग की असह्य वेदना से, दरिद्रता से अथवा किसी और कारण से नाना दुःखों को भोग रहा है, उसकी उस दुःखमय अवस्था को देखकर करुणावश ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये कि यदि इस जीव को मार दें तो यह दुःखों से छूट जायेगा। यदि उस जीव की आयु शेष है तो हमारे प्रयत्न करने पर भी उसका मरण नहीं हो सकता, परन्तु उसको मारने का परिणाम करने से हमें हिंसा का पाप अवश्य लगेगा। यदि उसका मरण

हो भी गया तो उस मरण मात्र से वह दुःखों से नहीं छूट सकता। जो पापकर्म शेष रह जायेंगे वह तो उसको आगामी भव में भी दुःख रूप फल देंगे, अतः दयादृष्टि से भी किसी का घात नहीं करना चाहिये। यदि जीव के प्रति करुणा भाव उत्पन्न हुआ है तो यथाशक्ति उसके दुःख दूर करने में सहायक कारण बनना चाहिये। दुःख-सुख तो कर्माधीन हैं।

सुखी जीवों का भी घात नहीं करना चाहिये—

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥
॥ ४-५०-८६ ॥

अन्वयार्थ—(**सुखावाप्तिः**) सुख की प्राप्ति (**कृच्छ्रेण**) कष्ट से होती है, इसलिये (**हताः**) मारे हुए (**सुखिनः**) सुखी जीव (**सुखिनः एव**) परलोक में सुखी ही (**भवन्ति**) होंगे (**इति**) ऐसी (**तर्कमण्डलाग्रः**) कुतर्क रूपी तलवार (**सुखिनां घाताय**) सुखी जीवों के घात करने के लिये (**नादेयः**) अंगीकार नहीं करनी चाहिये।

अर्थ—'सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है, इसलिये मारे हुये सुखी जीव परलोक में सुखी ही होंगे'—ऐसी कुतर्करूपी तलवार सुखी जीवों के घात करने के लिये अंगीकार नहीं करनी चाहिये।

विशेषार्थ—'सुख की प्राप्ति महाकठिन है, इसलिए सुखी अवस्था में जीवों को मार दिया जाये तो वे परलोक में भी सुखी रहेंगे'—ऐसी दुर्बुद्धि/कुतर्क से भी जीवों का घात नहीं करना चाहिये। संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो अन्य जीव को सुखी या दुःखी बना सके। प्रत्येक प्राणी का सुख-दुःख उसके कर्मों के अधीन है। जैसा शुभाशुभ कर्मों का उदय होगा, उसी के अनुसार उसे सुख-दुःख भोगना पड़ेगा। बाह्य निमित्त भी उन्हें वैसे ही मिल जाते हैं। अतः जीव को सुखी बनाये रखने के अभिप्राय से भी उसका घात नहीं करना चाहिये।

उसको मारने के परिणाम मात्र से ही हिंसा का दोष उत्पन्न होता है।

'हमारा गुरु उच्च पद को पा जायेगा'—इस भावना से गुरु का घात नहीं करना चाहिये—

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषता ॥
॥ ४-५१-८७ ॥

अन्वयार्थ—(**सुधर्मम् अभिलषता**) सत्यधर्म के अभिलाषी (**शिष्येण**) शिष्य द्वारा (**भूयसः अभ्यासात्**) अधिक अभ्यास से (**उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य**) ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करने वाले (**स्वगुरोः**) अपने गुरु का (**शिरः**) मस्तक (**न कर्त्तनीयं**) नहीं काटना चाहिये।

अर्थ--सत्यधर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा अधिक अभ्यास से ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करने वाले अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिये।

विशेषार्थ—'ध्यान में लीनता अथवा समाधि की प्राप्ति महान अभ्यास से प्राप्त होती है, इस समय हमारा गुरु समाधि में लीन है, अभ्यास भी बहुत किया है यदि इनके मस्तक को काटकर इनके प्राणों का अन्त कर दिया जाये तो वे उच्च पद को प्राप्त होंगे'—ऐसा मिथ्याश्रद्धान करके शिष्य को अपने गुरु का घात नहीं करना चाहिये। ऐसा विचार करना महामूर्खता तथा पाप है। गुरु ने साधना की है, उसका फल तो वह भविष्य में पावेगा ही, उसके लिये किसी दूसरे के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। हम किसी की हिंसा करके पाप के भागी क्यों बनें।

'खारपटिक' मत की मिथ्या मान्यता के वश भी हिंसा नहीं करनी चाहिये :—

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ।।
।। ४-५२-८८ ।।

अन्वयार्थ —(**धनलवपिपासितानां**) थोड़े से धन के प्यासे और (**विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्**) शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिये दिखाने वाले (**खारपटिकानाम्**) खारपटिकों का (**झटितिघटचटक-मोक्षं**) शीघ्र घड़ा फूटने से चिड़िया के मोक्ष की तरह मोक्ष का (**नैव-श्रद्धेयं**) कभी श्रद्धान नहीं करना चाहिये ।

अर्थ—थोड़े से धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिए दिखाने वाले, खारपटिकों का शीघ्र घड़ा फूटने से चिड़िया के मोक्ष की तरह मोक्ष का कभी श्रद्धान नहीं करना चाहिये ।

विशेषार्थ—प्राचीन काल में 'खारपटिक' नाम का कोई मत था। उनके गुरुओं का कथन था कि जैसे किसी घड़े में चिड़िया बन्द है, यदि उस घड़े को फोड़ दिया जाये तो चिड़िया बन्धनमुक्त हो जायेगी, वैसे ही आत्मा इस शरीर में बन्द है, यदि शरीर का नाश कर दिया जाये तो आत्मा बन्धनमुक्त हो जायेगी, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। इस प्रकार का झूठा विश्वास दिलाकर वे शिष्यों के शिर छेद देते थे और उनकी धन-सम्पदा हथिया लेते थे। आचार्य श्री धर्मात्मा जीवों को उपदेश दे रहे हैं कि धर्म की आड़ लेकर ठगने वाले ऐसे पाखंडी एवं लोभी गुरुओं से सावधान रहना चाहये, क्योंकि ऐसा मिथ्याश्रद्धान हिंसा का कारण है। कर्मों से सर्वथा छूटे विना आत्मा को मोक्ष नहीं हो सकता।

अन्य की क्षुधापूर्ति के लिये अपने शरीर का भी घात नहीं करना चाहिये :—

दृष्ट्वाऽपरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्माऽपि ।।
।। ४-५३-८९ ।।

अन्वयार्थ—(**च**) और (**अशनाय**) भोजन के लिये (**पुरस्तात्**) सामने (**आयान्तम्**) आये हुये (**अपरं**) अन्य (**क्षामकुक्षिम्**) भूखे पुरुष को (**दृष्ट्वा**) देखकर (**निजमांसदानरभसात्**) अपने शरीर का मांस देने की आतुरता से (**आत्माऽपि**) अपना भी (**न आलभनीयः**) घात नहीं करना चाहिये।

अर्थ—और भोजन के लिये सामने आये हुए अन्य भूखे पुरुष को देखकर अपने शरीर का मांस देने की आतुरता से अपना भी घात नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—भूख से पीड़ित जीवों को भोजन कराना करुणा दान है, परन्तु उनके क्षुधा-निवारण के लिये अपने शरीर का मांस काट-कर देना/खिलाना महान अज्ञानता है। प्रथम तो मांसभक्षी जीव को दान देना ही नहीं चाहिये, दूसरे मांस का दान निंद्य तथा धर्मविरुद्ध है, तीसरे अपने शरीर का मांस काटने से आत्मघात हो सकता है, जोकि महापाप रूप कर्म-बन्ध का कारण है। अतः धर्म को भली प्रकार सोच-समझकर विवेकपूर्वक पालन करना चाहिये। धर्म के नाम पर भी हिंसा करना उचित नहीं।

जैनमत के रहस्य को जानकर जीव मूढ़ता को प्राप्त नहीं होता—

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः॥
॥ ४-५४-९० ॥

अन्वयार्थ—(**नयभङ्गविशारदान्**) नयके भंगों को जानने में प्रवीण (**गुरून्**) गुरुओं की (**उपास्य**) उपासना करके (**विदितजिनमत-रहस्यः**) जिनमत के रहस्य को जानने वाला (**को नाम**) ऐसा कौन (**विशुद्धमतिः**) निर्मल बुद्धिधारी है जो (**अहिंसां श्रयन्**) अहिंसा का आश्रय लेकर (**मोहं**) मूढ़ता को (**विशति**) प्राप्त होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा।

अर्थ—नय के भंगों को जानने में प्रवीण गुरुओं की उपासना करके जिनमत के रहस्य को जानने वाला, ऐसा कौन निर्मल बुद्धिधारी है, जो अहिंसा का सहारा लेकर मूढ़ता को प्राप्त होगा ? अर्थात् कोई नहीं होगा।

विशेषार्थ—पिछले कुछ श्लोकों में कुतर्की मिथ्यादृष्टियों के नाना मतों का उल्लेख किया गया है। आचार्य श्री ने प्रत्येक स्थान पर सावधान किया है कि ऐसे कुगुरुओं के बहकाने में आकर उनके मिथ्यामतों का श्रद्धान नहीं करना चाहिये। जीवों को अपने भले-बुरे तथा हेयोपादेय का ज्ञान-श्रद्धान गुरु के उपदेश से ही होता है। जिस जीव ने नयभंगों के ज्ञाता तथा जैनधर्म के सिद्धान्त में प्रवीण, विद्वान गुरुओं की सेवा-उपासना करके उनसे अहिंसा-हिंसा के वास्तविक स्वरूप एवं उनके गूढ़ रहस्य को समझकर सर्वज्ञ वीतराग कथित दयाधर्म को अंगीकार किया है, वह जीव कदापि भ्रम में नहीं पड़ सकता। अतः बहुत ही सावधानी तथा दृढ़तापूर्वक अहिंसामयी दयाधर्म का पालन करना चाहिये।

सत्यव्रत का कथन—

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः॥

॥ ४-५५-९१ ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (किमपि) कुछ भी (प्रमादयोगात्) प्रमाद-कषाय के योग से (इदं) यह (असदभिधानं) अन्यथारूप वचन (विधीयते) कहने में आता है (तत्) उसे (अनृतम् अपि) निश्चय ही असत्य (विज्ञेयं) जानना चाहिए (तद्भेदाः) उसके भेद (चत्वारः) चार (सन्ति) हैं।

अर्थ—जो कुछ भी प्रमाद—कषाय के योग से, यह अन्यथा रूप वचन कहने में आता है, उसे निश्चय ही असत्य जानना चाहिये। उसके चार भेद हैं।

विशेषार्थ—'असदभिधानमनृतम्'—असत् वचन को अनृत (असत्य) कहते हैं। अथवा जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना असत्य कहलाता है। जो वचन अपने को तथा दूसरे को पीड़ा पहुँचाने वाला हो, प्रमाद के योग से उत्पन्न हुआ जो अन्यथा रूप वचन हो वह असत्य है। असत्य वचन के चार भेद हैं। आचार्यश्री स्वयं आगे के श्लोकों में उनका स्वरूप कहेंगे।

असत्य वचन का प्रथम भेद—

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥
॥ ४-५६-९२ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**यस्मिन्**) जिस वचन में (**स्वक्षेत्र-कालभावैः**) अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से (**सदपि**) विद्यमान होने पर भी (**वस्तु**) वस्तु का (**निषिध्यते**) निषेध किया जाता है (**तत्**) वह (**प्रथमम्**) पहला (**असत्यं**) असत्य (**स्यात्**) है (**यथा**) जैसे (**अत्र**) यहां (**देवदत्तः**) देवदत्त (**नास्ति**) नहीं है।

अर्थ—निश्चय ही जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विद्यमान होने पर भी वस्तु का निषेध किया जाता है, वह पहला असत्य है। जैसे—'यहाँ देवदत्त नहीं है'।

विशेषार्थ—अस्तित्व रूप पदार्थ का निषेध करना अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो वस्तु अस्तिरूप (विद्यमान) हो उसे नास्ति रूप (अविद्यमान) कहना असत्य का प्रथम भेद है। जैसे—देवदत्त के विद्यमान होते हुए भी उसका निषेध करके यह कहना 'यहाँ देवदत्त नहीं है'। यहाँ देवदत्त के अस्तिरूप होते हुए भी नास्ति रूप जो कथन किया गया है, वही असत्य वचन है। इस प्रकार किसी भी सत् रूप द्रव्य का निषेध करना असत्य वचन का पहला भेद है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का स्पष्टीकरण—देवदत्त नाम का पुरुष 'द्रव्य' है। उसने जितनी जगह घेर रक्खी है वह उसका 'क्षेत्र'

है। जिस काल में द्रव्य जिस रीति से विद्यमान है वह उसका 'काल' है। द्रव्य का निजभाव (परिणमन) उसका 'भाव' है (अर्थात् जहाँ जिस रूप में द्रव्य विद्यमान है)।

असत्य वचन का दूसरा भेद—

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथाऽस्ति घटः॥

॥४-५७-९३॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**यत्र**) जिस वचन में (**तैः परक्षेत्रकालभावैः**) उन परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से (**असदपि**) अविद्यमान होने पर भी (**वस्तुरूपं**) वस्तु का स्वरूप (**उद्भाव्यते**) प्रकट किया जाये (**तत्**) वह (**द्वितीयं**) दूसरा (**अनृतं**) असत्य है (**यथा**) जैसे (**अस्मिन्**) यहाँ (**घटः अस्ति**) घड़ा है।

अर्थ—निश्चय ही जिस वचन में, उन परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अविद्यमान होने पर भी वस्तु का स्वरूप प्रकट किया जाये वह दूसरा असत्य है। जैसे—'यहाँ घड़ा है'।

विशेषार्थ—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जो वस्तु नास्ति रूप है उसे अस्ति रूप कहना असत्य का दूसरा भेद है। अर्थात् जो वस्तु/द्रव्य अविद्यमान है उसे विद्यमान कहना। जैसे—घड़े के न रहने पर भी यह कहना कि 'यहाँ घड़ा है'। इस प्रकार किसी भी असत् रूप द्रव्य को सत्रूप कहना असत्य वचन का दूसरा भेद है।

असत्य वचन का तीसरा भेद—

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः॥

॥४-५८-९४॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**यस्मिन्**) जिस वचन में (**स्वरूपात्**) अपने स्वरूप-चतुष्टय से (**सदपि**) विद्यमान होने पर भी (**वस्तु**) पदार्थ (**पररूपेण**) अन्य स्वरूप से (**अभिधीयते**) कहा जाये उसे (**इदं**) यह (**तृतीयं अनृतम्**) तीसरा असत्य (**विज्ञेयं**) जानो (**यथा**) जैसे (**गौः**) बैल को (**अश्वः**) घोड़ा है (**इति**) ऐसा कहना।

अर्थ—और जिस वचन में अपने स्वरूप—स्वचतुष्टय से विद्यमान होने पर भी पदार्थ अन्य रूप से कहा जाये, उसे तीसरा असत्य जानो। जैसे—बैल को 'घोड़ा है'—ऐसा कहना।

विशेषार्थ—कोई वस्तु अपने स्वरूप—स्वचतुष्टय (स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से विद्यमान है, परन्तु उसे उसरूप न कहकर उसका अन्यथा कथन करना असत्य का तीसरा भेद है। अर्थात् जो वस्तु जिस स्वरूप है, उसे वैसी न कहकर अन्य रूप कहना। जैसे—बैल का 'घोड़ा कहना'। यहाँ बैल को अन्य द्रव्य रूप कहा गया, यह असत्य का तीसरा भेद है।

असत्य वचन का चौथा भेद—

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥

॥ ४-५६-६५ ॥

अन्वयार्थ—(**इदं**) यह (**तुरीयं**) चौथा (**अनृतं**) असत्य (**सामान्येन**) सामान्य रूप से (**गर्हितम्**) गर्हित (**अवद्यसंयुतम्**) पाप सहित (**तु**) और (**अप्रियं अपि**) अप्रिय भी—इस तरह (**त्रेधा**) तीन प्रकार का (**मतम्**) माना गया है (**यत्**) जो कि (**वचनरूपं**) वचन रूप (**भवति**) है।

अर्थ—यह चौथा असत्य (वचन) सामान्य रूप से गर्हित, पाप सहित और अप्रिय भी—इस तरह तीन प्रकार का माना गया है, जो कि वचन रूप है।

विशेषार्थ—चौथा असत्य वचन तीन प्रकार का है—(१) गर्हित—निन्दा के वचन बोलना, (२) पाप युक्त/हिंसा के वचन बोलना तथा (३) अप्रिय—दूसरे को बुरे लगने वाले वचन बोलना। इनका स्वरूप आगे के श्लोकों में कहा गया है।

गर्हित असत्य का स्वरूप—

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥
॥ ४-६०-९६ ॥

अन्वयार्थ—(**पैशून्यहासगर्भं**) दुष्टता अथवा चुगलीरूप हास्य वाला (**कर्कशं**) कठोर (**असमञ्जसं**) मिथ्याश्रद्धान वाला (**च**) और (**प्रलपितं**) प्रलाप रूप तथा (**अन्यदपि**) अन्य भी (**यत्**) जो (**उत्सूत्रं**) शास्त्रविरुद्ध वचन हैं (**तत्सर्वं**) उन सभी को (**गर्हितं**) निंद्यवचन (**गदितम्**) कहा गया है।

अर्थ—दुष्टता अथवा चुगलीरूप हास्यवाला, कठोर, मिथ्याश्रद्धान वाला और प्रलापरूप—बकवादरूप तथा अन्य भी जो शास्त्रविरुद्ध वचन हैं, उन सभी को निंद्यवचन कहा गया है।

विशेषार्थ—जो वचन कषाय के सद्भाव के कारण दुष्टता रूप हों, अन्य जीव का बुरा करने वाले चुगली रूप हों, हास्यमिश्रित (मसखरी रूप) हों, कठोर—सुनने में बुरे लगें, मिथ्याश्रद्धान—विपरीत श्रद्धान कराने वाले हों, बेकार बकवाद रूप हों तथा अन्य जो भी शास्त्र-विरुद्ध वचन हैं—वे सब गर्हित वचन हैं। ऐसे वचन स्व और पर में हिंसा उत्पन्न करते हैं, अतः व्रती पुरुष को इनका त्याग करना चाहिये।

अवद्यसंयुक्त असत्य का स्वरूप—

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥
॥ ४-६१-९७ ॥

अन्वयार्थ—(**छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि**) छेदन, भेदन, मारण, घसीटना, व्यापार या चोरी आदि के जो वचन हैं (**तत्**) वे सब (**सावद्यं**) पापयुक्त वचन हैं (**यस्मात्**) क्योंकि वे (**प्राणिवधाद्याः**) प्राणी-हिंसा आदि पाप रूप (**प्रवर्तन्ते**) प्रवर्तन कराते हैं।

अर्थ—छेदन के, भेदन के, मारण के, घसीटने के, (हिंसक) व्यापार करने के जो वचन हैं, वह सब पापयुक्त वचन हैं, क्योंकि वे प्राणी-हिंसा आदि पापरूप प्रवर्तन कराते हैं अर्थात् पापरूप कार्य में लगाते हैं।

विशेषार्थ—जिन वचनों को सुनकर अन्य जीव अवद्य—पापरूप कार्यों में लगे उन्हें 'सावद्य' वचन कहते हैं। अन्य जीवों को नाक आदि छेदने का, अंग काटने का, घसीटने का अथवा मारने का या हिंसक व्यापार करने का उपदेश देना, चोरी करने का तरीका बताना —ये सब वचन पापयुक्त वचन हैं, क्योंकि ऐसे वचनों को सुनकर जीव पापरूप हिंसक कार्यों में लगते हैं। यह सभी सावद्य (पाप) सहित असत्यवचन का स्वरूप है। इनसे प्राणियों का घात होता है, इसलिए व्रती पुरुष को इनका त्याग करना चाहिये।

अप्रिय असत्य वचन का स्वरूप—

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥

॥ ४-६२-९८ ॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो वचन (**परस्य**) दूसरे जीव को (**अरतिकरं**) अप्रीतिकारक हो (**भीतिकरं**) भयकारक हो (**खेदकरं**) खेदकारक हो (**वैरशोककलहकरम्**) वैर, शोक तथा कलह का कारक हो और (**अपरमपि**) अन्य जो भी (**तापकरं**) सन्ताप कारक हो (**तत्**) वे (**सर्वम्**) सब ही वचन (**अप्रियं**) अप्रिय वचन (**ज्ञेयम्**) जानने चाहिए।

अर्थ—जो वचन दूसरे जीव को अप्रीतिकारक हो, भयकारक हो, खेदकारक हो, वैर, शोक और कलह का कारक हो और अन्य जो भी सन्तापकारक हो, वे सब ही वचन अप्रिय जानने चाहिये।

विशेषार्थ—जो वचन दूसरे को अप्रीतिकारक—बुरे लगने वाले हों, खेद उत्पन्न करने वाले हों, भय उत्पन्न करने वाले हों, वैर उत्पन्न करने वाले हों, शोक उत्पन्न करने वाले हों, अथवा कलह—आपस में लड़ाई कराने के कारण हों तथा अन्य भी सन्तापकारक—मानसिक क्लेश उत्पन्न करने वाले सभी वचन अप्रिय असत्य के भेद हैं। इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

असत्य वचन में हिंसा—

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति॥
॥४-६३-९९॥

अन्वयार्थ—(यत्) क्योंकि (अस्मिन्) इन (सर्वस्मिन्नपि) सभी वचनों मे (प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं) प्रमाद—कषाय सहित योग ही एक कारण कहा गया है (तस्मात्) इसलिये (अनृतवचने) असत्य वचन में (अपि) भी (हिंसा) हिंसा (नियतं) निश्चित रूप से (समवतरति) आती है।

अर्थ—क्योंकि इन सभी वचनों में प्रमाद—कषाय सहित योग ही एक कारण कहा गया है, इसलिये असत्य वचन में भी हिंसा निश्चयरूप से आती है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोकों में असत्य वचनों का उल्लेख किया गया है। सभी प्रकार के असत्य वचन प्रमाद—कषाय योग के कारण ही बोले जाते हैं। जहाँ प्रमादसहित योग होता है वहाँ हिंसा अवश्य होती है और जहाँ प्रमादसहित योग नहीं होता वहाँ हिंसा

भी नहीं होती है। प्रमत्तयोग और हिंसा का ऐसा ही सम्बन्ध है। इसलिए असत्य वचन बोलने में हिंसा अवश्य होती है।

प्रमाद सहित योग में हिंसा—

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्॥
॥४-६४-१००॥

अन्वयार्थ—(**सकलवितथवचनानाम्**) समस्त असत्य वचनों का (**प्रमत्तयोगे**) प्रमादयुक्त योग (**हेतौ**) हेतु—कारण (**निर्दिष्टे**) कथन करने से (**हेयानुष्ठानादेः**) हेयोपादेय अनुष्ठानों का (**अनुवदनं**) कहना (**असत्यम्**) असत्य (**न भवति**) नहीं होता।

अर्थ—समस्त असत्य वचनों का प्रमादयुक्त योग हेतु—कारण कथन करने से हेयोपादेय आदि अनुष्ठानों का कहना असत्य नहीं होता।

विशेषार्थ—जो वचन कषाय युक्त भावों से प्रेरित होकर बोले जाते हैं, वे सब ही असत्य वचन कहलाते हैं। मुनिराज में कषाय भाव का अभाव होने से, वे असत्य वचन के सर्वथा त्यागी होते हैं। वह अपने प्रवचनों में हेयोपादेय का उपदेश करते हुए विषय-कषायों तथा अन्य पापों को छुड़ाने की भावना से उनकी बार-बार निन्दा करते हैं। हो सकता है विषय-कषाय तथा अन्य पापों में रत जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगे अथवा उससे उनको दुःख उत्पन्न हो। ऐसी दशा में मुनिराज को असत्य वचन का दोष नहीं लगता क्योंकि उनके वचन कषायगर्भित न होकर कल्याण की सद्भावना से कहे गये हैं। इसीलिये कहा है कि प्रमाद सहित बोलना ही झूठ है, अन्यथा नहीं।

अन्य समस्त असत्य वचनों का त्याग करना चाहिये—

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु॥
॥४-६५-१०१॥

अन्वयार्थ—(**वे**) जो जीव (**भोगोपभोगसाधनमात्रं**) भोग-उप-भोग के साधन मात्र (**सावद्यम्**) हिंसक वचन को (**मोक्तुम्**) छोड़ने में (**अक्षमाः**) असमर्थ हैं (**ते अपि**) वे भी (**शेषम्**) बाकी के (**समस्त-मपि**) सभी (**अनृतं**) असत्य वचन का (**नित्यमेव**) निरन्तर (**मुञ्चन्तु**) त्याग करें।

अर्थ—जो जीव भोग-उपभोग के साधन मात्र हिंसक वचन को छोड़ने में असमर्थ हैं, वे भी बाकी के सभी असत्य वचन का त्याग अवश्य करें।

विशेषार्थ—असत्य वचन त्याग के दो भेद हैं—एक सर्वत्याग जो कि मुनिधर्म पालन में ही संभव है तथा दूसरा एकदेश त्याग जोकि श्रावकधर्म में होता है। यहाँ आचार्यश्री प्रेरणा दे रहे हैं कि यदि सर्वथा त्याग बन सके तब तो बहुत ही उत्तम है, यदि कदाचित् कषाय के उदय के कारण सर्वथा त्याग न बन सके तो एकदेश त्याग अवश्य करना चाहिये। गृहस्थ अपने भोग-उपभोग के निमित्त ही सावद्य बोले, अन्यथा नहीं। उसे गर्हित, अप्रिय तथा झूठ वचन के अन्य सभी भेदों का त्याग अवश्य करना चाहिये।

चौर्य पाप का वर्णन—

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥
॥ ४-६६-१०२ ॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो (**प्रमत्तयोगात्**) प्रमाद के योग से (**अवि-तीर्णस्य**) विना दिये (**परिग्रहस्य**) परिग्रह का—स्वर्ण वस्त्रादि का (**ग्रहणं**) ग्रहण करना है (**तत्**) उसे (**स्तेयं**) चोरी (**प्रत्येयं**) जानना चाहिए (**च**) और (**सा एव**) वही (**वधस्य**) बन्ध का (**हेतुत्वात्**) कारण होने से (**हिंसा**) हिंसा है।

अर्थ—जो प्रमाद के योग से विना दिये परिग्रह का—स्वर्ण वस्त्रादि का ग्रहण करना है, उसे चोरी जानना चाहिये और वही बंध का कारण होने से हिंसा है।

विशेषार्थ—'अदत्तादानं स्तेयम्'—जहाँ वस्तु का लेना-देना संभव है—ऐसी वस्तु का प्रमत्तयोग से विना दिये ग्रहण करना चोरी है। अथवा जहाँ वस्तु के ग्रहण करने के संक्लेश परिणाम हों वह चोरी है। स्वामी की आज्ञा के विना उसके स्वर्ण, वस्त्रादि तथा अन्य पड़ी हुई वस्तुओं को उठा लेना, भूली हुई वस्तु का ग्रहण करना, चुरा लेना अथवा जबरदस्ती छीन लेना चोरी है।

चोरी करना भी हिंसा है, क्योंकि इसमें स्व और पर की भाव हिंसा तथा द्रव्य हिंसा दोनों पायी जाती हैं। चोरी करने वाले जीव के, चोरी करने के परिणाम होने से उसके भावप्राणों का घात होता है तथा कदाचित् चोरी करते हुए पकड़ा जाये अथवा चोरी प्रकट हो जाये तो द्रव्य प्राणों का घात भी संभव है। इसी प्रकार जिसकी वस्तु चुराई जाती है उसके परिणामों में संक्लेश उत्पन्न होता है, यह उसके भावप्राणों का घात है, तथा उसकी प्रिय वस्तु चोरी होने से द्रव्य-प्राणों का घात भी संभव है। क्योंकि धनादिक भी द्रव्यप्राणों के पोषक हैं। इस प्रकार चोरी करने वाले जीव की तथा जिसकी चोरी हुई है दोनों की भावहिंसा तथा द्रव्यहिंसा होती है। अतः चोरी भी हिंसा रूप होने से पाप कर्म के बन्ध का कारण है।

चोरी साक्षात् हिंसा है—

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥

॥ ४-६७-१०३ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**जनः**) मनुष्य (**यस्य**) जिस जीव के (**अर्थान्**) पदार्थों अथवा धन को (**हरति**) हर लेता है (**सः**) वह मनुष्य (**तस्य**) उस जीव के (**प्राणान्**) प्राणों को (**हरति**) हर लेता है, क्योंकि जगत् में (**ये**) जो (**एते**) ये (**अर्थाः नाम**) धन आदि पदार्थ प्रसिद्ध हैं (**एते**) वे सभी (**पुंसाम्**) मनुष्यों के (**बहिश्चराः प्राणाः**) बाह्य प्राण हैं।

अर्थ—जो मनुष्य जिस जीव के पदार्थों अथवा धन को हर लेता है, वह मनुष्य उस जीव के प्राणों को हर लेता है, क्योंकि जगत् में जो ये धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं, वे सभी मनुष्य के बाह्य प्राण हैं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार तीन बल, पाँच इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास तथा आयु ये संसारी जीव के द्रव्यप्राण हैं, उसी प्रकार धन, धान्य, सम्पत्ति, बैल, घोड़ा, घर, जमीन, स्त्री, पुत्र, वस्त्र आदि भी उसके बाह्य प्राण कहलाते हैं। कोई-कोई लोग तो उपर्युक्त पदार्थों को ग्यारहवाँ प्राण भी कहते हैं, क्योंकि ये उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय होते हैं। इन पदार्थों में से किसी एक का भी वियोग होने पर उस जीव को प्राणघात जैसा दुःख उत्पन्न होता है, इसलिए कहा है कि किसी के धनादि का हरण करना/चुरा लेना उसके प्राणों का भी हरण है। प्राणों का हरण/घात होने के कारण ही चोरी को साक्षात् हिंसा कहा है।

हिंसा और चोरी में अव्यापकता नहीं, व्यापकता ही है—

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥
॥ ४-६८-१०४ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसायाः**) हिंसा में (**च**) और (**स्तेयस्य**) चोरी में (**अव्याप्ति**) अव्याप्ति (**न**) नहीं है (**सा सुघटमेव**) चोरी में हिंसा सुघटित होती है (**यस्मात्**) क्योंकि (**अन्यैः**) दूसरों के द्वारा (**स्वीकृतस्य**) स्वीकार किए गये (**द्रव्यस्य**) द्रव्य के (**ग्रहणे**) ग्रहण में (**प्रमत्तयोगः**) प्रमाद का योग है।

अर्थ—हिंसा में और चोरी में अव्याप्ति नहीं है। चोरी में हिंसा सुघटित होती ही है, क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकार किए गए द्रव्यों के ग्रहण में प्रमाद का योग है।

विशेषार्थ—जो लक्षण पदार्थ के एकदेश में पाया जाये उसे 'अव्याप्ति' दोष कहते हैं—ऐसा पूर्व में बता चुके हैं। इसके अनुसार

हिंसा और चोरी में अव्याप्ति दोष नहीं है, बल्कि व्यापकता पाई जाती है। क्योंकि चोरी करने में प्रमादयोग ही मुख्य कारण है। प्रमादयोग के विना चोरी संभव ही नहीं। प्रमाद का नाम ही हिंसा है। 'जहां-जहां चोरी होती है वहां-वहां हिंसा अवश्य होती है'। इस प्रकार हिंसा और चोरी में व्यापकता सिद्ध होती है।

हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं—

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्॥
॥ ४-६९-१०५ ॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**नीरागाणाम्**) वीतरागी पुरुषों के (**प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्**) प्रमत्तयोगरूप एक कारण के अभाव से (**कर्म्मानुग्रहणे**) द्रव्य कर्म और नोकर्म की कर्म-वर्गणाओं को ग्रहण करने में (**अपि**) निश्चय ही चोरी की (**अविद्यमानत्वात्**) अनुपस्थिति से (**तयोः**) उन दोनों—हिंसा और चोरी में (**अतिव्याप्तिः**) अतिव्याप्ति (**न**) नहीं है।

अर्थ—और वीतरागी पुरुषों के प्रमत्तयोग रूप एक कारण के अभाव से, द्रव्य कर्म और नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करने में निश्चय ही चोरी की अनुपस्थिति से उन दोनों—हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं है।

विशेषार्थ—'लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्ति दोष कहते हैं'– ऐसा पूर्व में बता चुके हैं। चोरी का लक्षण 'प्रमत्तयोगात् अदत्तादानं स्तेयं' कहा है। अर्थात् प्रमत्तयोग से विना दी हुई पर वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं आता क्योंकि 'प्रमत्तयोग से विना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है, परन्तु जहां प्रमत्तयोग नहीं है वहां चोरी नहीं है'।

वीतराग अरहन्त भगवान् विना दी हुई कर्म और नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण करते हैं, उन्हें भी चोरी के दोष का प्रसंग आना

चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उनके 'प्रमत्तयोग' का अभाव है। प्रमत्तयोग के अभाव में चोरी नहीं कहलाती। प्रमत्तयोग के बिना चोरी हो सकती तो अतिव्याप्ति दोष आता। प्रमत्तयोग को ही हिंसा कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति नहीं है। 'जहां-जहां हिंसा है वहां-वहां चोरी है, जहां-जहां हिंसा नहीं, वहां-वहां चोरी भीनहीं'।

चोरी के त्याग के भेद—

> असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
> तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥
> ॥ ४-७०-१०६ ॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जीव (**निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्**) दूसरे के कुआं, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि ग्रहण करने का त्याग (**कर्त्तुम्**) करने में (**असमर्थाः**) असमर्थ हैं (**तैः**) उन्हें (**अपि**) भी (**अपरं**) अन्य (**समस्तम्**) सब ही (**अदत्तं**) बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का (**नित्यम्**) हमेशा (**परित्याज्यम्**) त्याग करना चाहिए।

अर्थ—जो जीव दूसरे के कुआं, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि ग्रहण करने का त्याग करने में असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य सब ही बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण का हमेशा त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ—चोरी का त्याग भी दो प्रकार का है—एक सर्वथा त्याग जोकि मुनिधर्म पालन में ही संभव है तथा दूसरा एकदेश त्याग जिसे गृहस्थ लोग/श्रावक ग्रहण करते हैं। बन सके तो सर्वथा त्याग करना ही उत्तम है, यदि कदाचित् यह न बन सके तो एकदेश त्याग तो अवश्य करना चाहिये। श्रावक कुआं, नदी, बावड़ी इत्यादि का जल, खान की मिट्टी बिना पूछे या बिना दिये ग्रहण कर सकता है, उसे चोरी का दोष नहीं लगता। यदि मुनि उन्हें ग्रहण करे तो

चोरी कहलायेगी। अतः श्रावक को बिना दी हुई समस्त अन्य वस्तुओं का त्याग अवश्य करना चाहिये।

कुशील (अब्रह्म) का स्वरूप—

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥
॥ ४-७१-१०७ ॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो (**वेदरागयोगात्**) वेद के राग रूप योग से (**मैथुनम्**) स्त्री-पुरुष का सहवास (**अभिधीयते**) कहा जाता है (**तत्**) वह (**अब्रह्म**) अब्रह्म है और (**तत्र**) उस सहवास में (**वधस्य**) प्राणी-वध का (**सर्वत्र**) सब जगह (**सद्भावात्**) सद्भाव होने से (**हिंसा**) हिंसा (**अवतरति**) होती है।

अर्थ—जो वेद के रागरूप योग से स्त्री-पुरुष का सहवास कहा जाता है, वह अब्रह्म है और उस सहवास में प्राणी-वध का सब जगह सद्भाव होने से हिंसा होती है।

विशेषार्थ—'मैथुनमब्रह्म'—मैथुन अब्रह्म/कुशील है। पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद—ये तीन वेद के भेद हैं। इन तीनों वेदों के उदय-जन्य राग रूप योग से मैथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का मिलकर काम-सेवन करना कुशील/अब्रह्म कहलाता है। कुशील-सेवन में स्व और पर हिंसा का सद्भाव है। स्त्री-पुरुष के कामरूप परिणाम होने से भाव हिंसा होती है। शरीर में शिथिलता आदि तथा वीर्यक्षय आदि होने से द्रव्यप्राण का घात होता है। स्त्री की योनि इत्यादि के आश्रय से मनुष्य के आकार के सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। सहवास के समय उन जीवों के भावप्राण तथा द्रव्यप्राण का घात होता है इस प्रकार कुशील-सेवन में सर्वत्र हिंसा होती है।

मैथुन में साक्षात् हिंसा—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥
॥ ४-७२-१०८ ॥

अन्वयार्थ—(**यद्वत्**) जिस प्रकार (**तिलनाल्यां**) तिल से भरी नली में (**तप्तायसि विनिहिते**) गरम लोहे की सलाख डालने से (**तिलाः**) तिल (**हिंस्यन्ते**) नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जल-भुन जाते हैं (**तद्वत्**) उसी प्रकार (**मैथुने**) मैथुन के समय (**योनौ**) योनि में भी (**बहवो जीवाः**) बहुत से जीव (**हिंस्यन्ते**) मर जाते हैं ।

अर्थ—जिस प्रकार तिल से भरी नली में गरम लोहे की सलाख डालने से तिल नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जल-भुन जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन के समय योनि में बहुत से जीव मर जाते हैं ।

विशेषार्थ—जैसे तिलों से भरी नली में अत्यन्त गरम लोहे की सलाख डाली जाये तो वे तिल जल-भुन कर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन क्रिया में स्त्री की योनि में रहने वाले जीव तुरन्त ही मर जाते हैं । इस प्रकार मैथुन में साक्षात् हिंसा है ।

अनंग क्रीड़ा में भी हिंसा है—

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि ।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥
॥ ४-७३-१०९ ॥

अन्वयार्थ—(**मदनोद्रेकात्**) काम की तीव्रता से (**यदपि किञ्चित्**) जो कुछ भी (**अनंगरमणादि**) अनंग क्रीड़ा (**क्रियते**) की जाती है (**तत्रापि**) उसमें भी (**रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्**) रागादि की उत्पत्ति के कारण (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) होती है ।

अर्थ—काम की तीव्रता से जो कुछ भी अनंगक्रीड़ा की जाती है, उसमें भी रागादि की उत्पत्ति के कारण हिंसा होती है ।

विशेषार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय से तीव्र काम विकार उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति तीव्र कामविकार के कारण अनंगक्रीड़ा (काम सेवन करने योग्य अंगों के सिवाय अन्य अंगों से या अन्य अंगों में काम चेष्टा करना) करता है वह भी हिंसा करता है। यदि रागादि भाव तीव्र न हों तो कामक्रीड़ा अथवा अनंगक्रीड़ा संभव ही नहीं। जहाँ रागादि भावों की तीव्रता है वहाँ हिंसा अवश्य होती है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीड़ा में भी राग का सद्भाव होने से हिंसा होती है।

कुशील के त्याग का क्रम—

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥
॥ ४-७५-११० ॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जीव (**मोहात्**) मोह के कारण (**निज-कलत्रमात्रं**) अपनी विवाहिता स्त्री को (**परिहर्तुम्**) छोड़ने में (**हि**) निश्चय ही (**न शक्नुवन्ति**) समर्थ नहीं है (**तैः**) उन्हें (**निःशेषशेष-योषिन्निषेवणं अपि**) बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि (**न**) नहीं (**कार्यम्**) करना चाहिये।

अर्थ—जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में निश्चय ही समर्थ नहीं, उन्हें बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—कुशील का त्याग भी दो प्रकार का है—एक सर्वथा महाव्रत रूप त्याग जो कि मुनिधर्म पालन में ही संभव है तथा दूसरा एकदेश त्याग जिसे श्रावक ग्रहण करते हैं। सर्वथा महाव्रत रूप त्याग करना तो अति उत्तम है। यदि कदाचित् अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में असमर्थ हो तो श्रावक को 'ब्रह्मचर्याणुव्रत'—एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिये। उसे अपनी अपनी स्त्री में ही सन्तोष रखना चाहिये, उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी स्त्री के साथ काम-सेवन का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

परिग्रह पाप का स्वरूप—

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः ।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥
॥ ४-७५-१११ ॥

अन्वयार्थ— (**इयं**) यह (**या**) जो (**मूर्च्छा नाम**) मूर्च्छा है (**एषः**) इसे ही (**हि**) निश्चय ही (**परिग्रहः**) परिग्रह (**विज्ञातव्यः**) जानना चाहिये (**तु**) और (**मोहोदयात्**) मोह के उदय से (**उदीर्णः**) उत्पन्न हुआ (**ममत्वपरिणामः**) ममत्व रूप परिणाम ही (**मूर्च्छा**) मूर्च्छा है ।

अर्थ—यह जो मूर्च्छा है, इसे ही निश्चय ही परिग्रह जानना चाहिये । और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है ।

विशेषार्थ— 'मूर्च्छा परिग्रहः'—मूर्च्छा परिग्रह है । चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से पर-पदार्थों में जो रागादि-रूप ममत्व परिणाम उत्पन्न होता है अथवा 'यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ'—इस प्रकार जो संकल्प होता है, वास्तव में वही 'मूर्च्छा' है । मूर्च्छा को परिग्रह भी कहते हैं । जो हमारी आत्मा को ममत्वभाव के कारण चारों ओर से जकड़े उसे 'परिग्रह' कहते हैं । पर-वस्तु के प्रति रागादि-रूप परिणाम आत्म-स्वभाव के घातक होने से हिंसा ही हैं । अतः हिंसा-रूप होने से परिग्रह पाप ही है ।

मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) ही वास्तव में परिग्रह है—

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनाऽपि किल शेषसंगेभ्यः ॥
॥ ४-७६-११२ ॥

अन्वयार्थ—(**परिग्रहत्वस्य**) परिग्रह भाव का (**मूर्च्छालक्षण-करणात्**) मूर्च्छा लक्षण करने से (**व्याप्तिः**) व्याप्ति (**सुघटा**) भली

प्रकार से घटित होती है, क्योंकि (**शेषसंगेभ्यः**) अन्य बाह्य परिग्रहों क (**विना अपि**) विना भी (**मूर्च्छावान्**) ममत्व परिणाम रखने वाला पुरुष (**किल**) निश्चय ही (**सग्रन्थः**) बाह्य परिग्रह सहित है।

अर्थ— परिग्रह भाव का 'मूर्च्छा' लक्षण करने से व्याप्ति भली प्रकार घटित होती है, क्योंकि अन्य बाह्य परिग्रहों के विना भी ममत्व-परिणाम रखने वाला पुरुष निश्चय ही बाह्य परिग्रह सहित है।

विशेषार्थ—जहाँ लक्षण हो वहाँ लक्ष्य भी हो, इस प्रकार साहचर्य के नियम को व्याप्ति कहते हैं। 'परिग्रहों के भाव का लक्षण मूर्च्छा है।' इस लक्षण में मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति भली प्रकार घटित होती है। 'जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ परिग्रह है।' धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह के विना भी, उसके प्रति ममत्व भाव रखने वाला व्यक्ति नियम से परिग्रह-सहित है। जैसे कोई व्यक्ति अति निर्धन है। उसके पास बाह्य कुछ भी वस्तु परिग्रह रूप में नहीं है, परन्तु उसके अन्तरंग में नाना वस्तुओं के प्रति ममत्व परिणाम बना हुआ है, इसलिए वह परिग्रहवान् ही है। किसी वस्तु का अपने पास होना या न होना परिग्रह नहीं कहलाता, वास्तव में उस वस्तु के प्रति जो हमारा ममत्वपरिणाम है, वही परिग्रह है।

बाह्य वस्तु मूर्च्छा की निमित्त है—

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम्॥
॥४-७७-११३॥

अन्वयार्थ—(**यदि**) यदि (**एवं**) ऐसा (**भवति**) होता है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होता (**तदा**) तब तो (**खलु**) निश्चय ही (**बहिरंगः परिग्रहः**) बाह्य परिग्रह (**कोऽपि**) कुछ भी (**न**) नहीं (**भवति**) होता? ऐसा नहीं है, (**यतः**) क्योंकि (**असौ**) यह बाह्य परिग्रह (**मूर्च्छानिमित्तत्वम्**) मूर्च्छा के निमित्तपने को (**नितरां**) पूर्ण रूप से (**धत्ते**) धारण करता है।

अर्थ—यदि ऐसा होता अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होता, तब तो निश्चय ही बाह्य परिग्रह कुछ भी नहीं होता ? ऐसा नहीं है, क्योंकि यह बाह्य परिग्रह मूर्च्छा के निमित्तपने को पूर्णरूप से धारण करता है।

विशेषार्थ—यहाँ कोई शंका करता है कि यदि मूर्च्छा का नाम ही वास्तव में परिग्रह है तो धन-धान्यादि बाह्य वस्तुयें परिग्रह नहीं कहलायेंगी, इनको परिग्रह क्यों कहते हो ? आचार्यश्री उसका समाधान करते हैं—धन-धान्यादि बाह्य वस्तुयें मूर्च्छा/इच्छा/लालसा उत्पन्न करने के लिए विशेष निमित्त कारण हैं। उन वस्तुओं के देखने-सुनने से उनमें अनुराग/इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिए उसे भी परिग्रह कहा जाता है। इस प्रकार परिग्रह का लक्षण तो 'मूर्च्छा' ही सिद्ध होता है। बाह्य पदार्थ ता मूर्च्छा भाव में निमित्त मात्र हैं।

पूर्व कथित लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छाऽस्ति ।।
॥ ४-७८-११४ ।

अन्वयार्थ—(**इति चेत्**) यदि ऐसा कहते हो तो (**एवम्**) इस लक्षण में (**परिग्रहस्य**) बाह्य परिग्रह को (**अतिव्याप्तिः**) अतिव्याप्ति (**स्यात्**) होती है ? (**एवं**) ऐसा (**न भवेत्**) नहीं होता अर्थात् अतिव्याप्ति नहीं होती (**यस्मात्**) क्योंकि (**अकषायाणां**) कषाय रहित अर्थात् वीतरागी पुरुषों को (**कर्मग्रहणे**) कार्मणवर्गणा के ग्रहण में (**मूर्च्छा**) मूर्च्छा (**नास्ति**) नहीं है।

अर्थ—यदि ऐसा कहते हो, तो इस लक्षण में परिग्रह की अतिव्याप्ति होती है ? ऐसा नहीं होता अर्थात् अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि कषाय-रहित वीतरागी पुरुषों को कार्मणवर्गणा के ग्रहण में मूर्च्छा नहीं है।

विशेषार्थ—शंकाकार पुनः शंका करता है कि आप बाह्य परिग्रह को मूर्च्छा उत्पन्न करने का कारण कहते हो तो 'मूर्च्छा परिग्रहः'—इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि अर्हन्त अवस्था में कार्मण तथा नोकर्म वर्गणाओं के ग्रहण रूप परिग्रह है, यहाँ भी मूर्च्छा हो जायेगी।

शंका समाधान—अतिव्याप्ति दोष नहीं है क्योंकि 'जहाँ-जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ-वहाँ परिग्रह नहीं है, तथा जहाँ-जहाँ परिग्रह है वहाँ-वहाँ मूर्च्छा अवश्य है।' इस सिद्धान्त के अनुसार वीतरागी महापुरुषों के कार्मण तथा नोकर्म वर्गणाओं के ग्रहण में मूर्च्छा का सर्वथा अभाव है। मूर्च्छा न होने से यह उनका परिग्रह सिद्ध नहीं होता। अतः उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

परिग्रह के भेद—

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु॥
॥ ४-७९-११५ ॥

अन्वयार्थ—(**अतिसंक्षेपात्**) अतिसंक्षेप से (**सः**) वह परिग्रह (**आभ्यन्तरः**) अन्तरंग (**च**) और (**बाह्यः**) बहिरंग (**द्विविधः**) दो प्रकार का (**भवेत्**) है (**च**) और (**प्रथमः**) पहला—अन्तरंग परिग्रह (**चतुर्दशविधः**) चौदह प्रकार का (**तु**) तथा (**द्वितीयः**) दूसरा—बहिरंग परिग्रह (**द्विविधः**) दो प्रकार का (**भवति**) है।

अर्थ—अति संक्षेप से वह परिग्रह अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार का है। और पहला—अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का, तथा दूसरा बहिरंग परिग्रह दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—संक्षेप से परिग्रह दो प्रकार का है। एक अन्तरंग तथा दूसरा बहिरंग। आत्मा के क्रोधादि परिणामों को अन्तरंग परिग्रह कहते हैं। वह चौदह प्रकार का है। बाहर के सभी पदार्थों को बाह्य

परिग्रह कहते हैं, वह मूल में दो प्रकार का है। इनका वर्णन आचार्यश्री आगे के श्लोकों में स्वयं करेंगे।

अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद—

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥
॥ ४-८०-११६ ॥

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्ववेदरागाः) मिथ्यात्व, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद का राग (तथैव च) और इसी तरह (हास्यादयः) हास्यादि—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—ये (षड्-दोषाः) छह दोष (च) और (चत्वारः) चार (कषायाः) कषाय—क्रोध, मान, माया, और लोभ—ये (आभ्यन्तराः ग्रन्थाः) अन्तरंग परिग्रह (चतुर्दश) चौदह हैं।

अर्थ—मिथ्यात्व, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद का राग, और इसी तरह हास्यादि—हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा—ये छह दोष, और चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये अन्तरंग परिग्रह चौदह हैं।

विशेषार्थ—अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है—(१) मिथ्यात्व—तत्वार्थों का विपरीत श्रद्धान, (२) स्त्रीवेद—पुरुष की अभिलाषा रूप परिणाम, (३) पुरुषवेद—स्त्री की अभिलाषा रूप परिणाम, (४) नपुंसकवेद—स्त्री तथा पुरुष दोनों की अभिलाषा रूप परिणाम, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा—ग्लानि, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया (१४) लोभ। ये सब आत्मा के विभाव/विकारी परिणाम हैं, इसलिए इन्हें परिग्रह की संज्ञा दी गई है। कर्मोदय के निमित्त से आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर इन विकारी परिणामों में ही रमा रहता है।

बाह्य परिग्रह के दो भेद—

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैषः कदाऽपि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥
॥ ४-८१-११७ ॥

अन्वयार्थ—(**अथ**) इसके बाद (**बाह्यस्य**) बहिरंग परिग्रह के (**निश्चित्तसचित्तौ**) अचित्त और सचित्त यह (**द्वौ**) दो (**भेदौ**) भेद हैं (**एष**) यह (**सर्वः अपि**) सभी (**संगः**) परिग्रह (**कदा अपि**) किसी समय भी (**हिंसाम्**) हिंसा का (**न अतिवर्तते**) उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा-रहित नहीं है ।

अर्थ— इसके बाद बहिरंग परिग्रह के अचित्त और सचित्त यह दो भेद हैं । यह सभी परिग्रह किसी समय भी हिंसा का उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा-रहित नहीं है ।

विशेषार्थ—बहिरंग परिग्रह अचित्त (अचेतन) तथा सचित्त (चेतन) के भेद से दो प्रकार का है । अचेतन परिग्रह के आठ भेद हैं—(१) धान्य (सब प्रकार के अनाज), (२) क्षेत्र (खेत), (३) वास्तु (घर), (४) धन (सोना, चाँदी, हीरा-मोती, धन-सम्पदा इत्यादि), (५) शयनासन (पलंग इत्यादि), (६) यान (सवारी), (७) कुप्य (सब प्रकार के वस्त्र तथा (८) भाण्ड (सब प्रकार के बर्तन) । चेतन परिग्रह के भी दो भेद हैं—(१) चतुष्पद (गाय-भैंस इत्यादि अनेक पशु तथा (२) द्विपद (दासी, दास स्त्री-पुरुष आदि)। इस प्रकार बहिरंग परिग्रह के कुल मिलाकर दस भेद हुए । ये सभी परिग्रह हिंसा रूप ही हैं । कोई भी परिग्रह किसी समय भी हिंसा विना नहीं है । अगले श्लोकों में आचार्यश्री स्वयं इसका स्पष्टीकरण करेंगे ।

परिग्रह सम्बन्धी हिंसा/अहिंसा का लक्षण—

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥
॥ ४-८२-११८ ॥

अन्वयार्थ—(**जिनप्रवचनज्ञाः**) जिनसिद्धान्त के जानने वाले (**आचार्याः**) आचार्य (**उभयपरिग्रहवर्जनम्**) दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को (**अहिंसेति**) अहिंसा—ऐसा और (**द्विविधपरिग्रहवहनं**) दोनों प्रकार के परिग्रह धारण करने को (**हिंसेति**) हिंसा—ऐसा (**सूचयन्ति**) सूचित करते हैं—कहते हैं।

अर्थ—जिनसिद्धान्त के जानने वाले आचार्य दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को अहिंसा—ऐसा, और दोनों प्रकार के परिग्रह के धारण को हिंसा—ऐसा सूचित करते हैं—कहते हैं।

विशेषार्थ—जैन सिद्धान्त के जानने वाले आचार्यों ने अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को 'अहिंसा' तथा दोनों प्रकार के परिग्रह के धारण को हिंसा' कहा है। इसका खुलासा अगले श्लोक में है।

दोनों प्रकार के परिग्रहों में हिंसा—

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसाऽन्तरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥
॥ ४-८३-११९ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसापर्यायत्वात्**) हिंसा को पर्याय रूप होने से (**अन्तरंगसंगेषु**) अन्तरंग परिग्रहों में (**हिंसा**) हिंसा (**सिद्धा**) स्वयं सिद्ध है और (**बहिरंगेषु**) बहिरंग परिग्रहों में (**मूर्च्छा**) ममत्वभाव (**एव**) ही (**नियतं**) निश्चय ही (**हिंसात्वम्**) हिंसाभाव को (**प्रयातु**) प्राप्त होता है।

अर्थ—हिंसा की पर्यायरूप होने से अन्तरंग परिग्रहों में हिंसा स्वयं सिद्ध है और बहिरंग परिग्रहों में ममत्वभाव ही निश्चय ही हिंसाभाव को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के सभी अन्तरंग परिग्रह मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से होने वाले आत्मा के विभाव/

विकारी परिणाम हैं। आत्मस्वभाव का घात करने से ये सब परिणाम भावहिंसा की ही भिन्न-भिन्न पर्याय हैं। ममत्वपरिणाम भी आत्मा का विभाव/विकारी परिणाम है। आत्मस्वभाव का घात करने वाला है, इसलिए हिंसा ही है। इस प्रकार अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार का परिग्रह हिंसा रूप ही है।

क्या ममत्व परिणाम मात्र सभी में समान पाप-बन्ध का कारण है ?—

एवं न विशेषः स्यादुन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ॥
॥ ४-८४-१२० ॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरंग परिग्रह में ममत्वपरिणाम का होना ही मूर्च्छा है, तो (**उन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम्**) बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि में (**विशेषः**) कोई विशेषता (**न स्यात्**) न रहे। परन्तु (**एवं**) ऐसा (**न भवति**) नहीं होता, क्योंकि (**मूर्च्छाविशेषेण**) ममत्व परिणामों की विशेषता से (**तेषां**) उन बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि जीवों में (**विशेषः**) विशेषता है अर्थात समानता नहीं है।

अर्थ—यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरंग परिग्रह में ममत्वपरिणाम का होना ही मूर्च्छा है, तो बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि में कोई विशेषता न रहे ? परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि ममत्वपरिणामों की विशेषता से उन बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि जीवों में विशेषता है अर्थात् समानता नहीं है।

विशेषार्थ—यहाँ कोई शंका करता है कि यदि बहिरंग परिग्रह में ममत्वपरिणाम ही हिंसा का कारण हैं, तो बिल्ली और हरिण के बच्चे में कोई भेद नहीं रहेगा, दोनों समान रूप से हिंसक कहलायेंगे? आचार्यश्री शंका का समाधान करते हैं कि वास्तव में ऐसा नहीं है। बिल्ली के मांस खाने के परिणाम हैं और हरिण के घास खाने के

परिणाम हैं। इस प्रकार इन दोनों के ममत्वपरिणामों में विशेष अन्तर है। समानता नहीं है। अतः दोनों के ममत्वपरिणामों में अंतर होने के कारण कर्मबन्ध में भी अन्तर है।

दोनों की मूर्च्छा में विशेषता—

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा॥
॥ ४-८५-१२१ ॥

अन्वयार्थ—(**हरिततृणांकुरचारिणि**) हरी घास के अंकुर खाने वाले (**मृगशावके**) हरिण के बच्चे में (**मूर्च्छा**) मूर्च्छा (**मन्दा**) मन्द (**भवति**) होती है (**सा एव**) वही मूर्च्छा (**उन्दुरुनिकरोन्माथिनि**) चूहों के समूह का वध करने वाली (**मार्जारे**) बिल्ली में (**तीव्रा**) तीव्र (**जायते**) होती है।

अर्थ—हरी घास के अंकुर खाने वाले हरिण के बच्चे में मूर्च्छा मन्द होती है। वही मूर्च्छा चूहों के समूह का वध करने वाली बिल्ली में तीव्र होती है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक में कही गई परिणामों की विशेषता (अन्तर) का यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं—हरिण के बच्चे को हरी घास खाने में अधिक लालसा अथवा सरागता नहीं है। यदि घास खाते समय जरासा भी डर मालूम पड़ता है तो वह तुरन्त घास छोड़कर भाग जाता है। इससे प्रतीत होता है कि उसमें ममत्वपरिणाम बहुत मन्द है। इसके विपरीत बिल्ली में चूहों को मारकर खाने की लालसा/सरागता अति तीव्र है। यदि चूहों को खाते समय कोई बिल्ली को लाठी से भी मारे तो भी वह बड़ी मुश्किल से उसे छोड़ती है। इससे ज्ञात होता है कि उसमें ममत्वपरिणाम बहुत तीव्र है। इस प्रकार दोनों के राग और ममत्वपरिणामों में बहुत अन्तर है, अतः दोनों एक समान हिंसक या पापी नहीं है। राग की तीव्रता/मन्दता तथा ममत्वपरिणामों के अनुसार वे पाप के भागी होंगे।

पूर्व कथन की सिद्धि—

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥
॥ ४-८६-१२२ ॥

अन्वयार्थ—(**औधस्यखण्डयोः**) दूध और खाण्ड में (**माधुर्य्य-प्रीतिभेदः इव**) मधरता के रुचि-भेद की तरह (**इह**) इस लोक में (**हि**) निश्चय ही (**कारणविशेषात्**) कारण की विशेषता से (**कार्य-विशेषः**) कार्य की विशेषता (**निर्बाधं**) बाधा रहित (**संसिध्येत्**) भली प्रकार से सिद्ध होती है ।

अर्थ—दूध और खाण्ड में मधुरता के रुचि-भेद की तरह, इस लोक में निश्चय ही कारण को विशेषता से कार्य की विशेषता बाधा रहित भली प्रकार से सिद्ध होती है ।

विशेषार्थ—कारण के अनुसार ही कार्य उत्पन्न होता है, ऐसा नियम है । जैसे दूध में मिठास कम है और खाण्ड (चोनी) में ज्यादा है । जो अधिक मीठे के इच्छुक हैं, उनको दूध में कम और खाण्ड में विशेष रुचि होती है । अगले श्लोक में इसी तथ्य को उदारण द्वारा स्पष्ट करेंगे ।

उसका उदाहरण—

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥
॥ ४-८७-१२३ ॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय हो (**मन्दमाधुर्ये**) थोड़े मिठास वाले (**दुग्धे**) दूध में (**माधुर्यप्रीतिः**) मिठास की रुचि (**मन्दा**) थोड़ी (**एव**) ही (**व्यपदिश्यते**) कहने में आती है (**सा एव**) वही मिठास की रुचि (**उत्कटमाधुर्ये**) अधिक मिठास वाली (**खण्डे**) खाण्ड में (**तीव्रा**) अधिक कहने में आती है ।

अर्थ—निश्चय ही थोड़े मिठास वाले दूध में मिठास की रुचि थोड़ी ही कहने में आती है। वही मिठास की रुचि अधिक मिठास वाली खाण्ड में अधिक कहने में आती है।

विशेषार्थ—इस श्लोक में उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि अपने-अपने ममत्वभाव/राग की मन्दता/तीव्रता के अनुसार जीव हिंसा के भागीदार होते हैं। जैसे कोई जीव तो गाय का दूध पीकर ही उसके थोड़े मिठास से सन्तुष्ट हो जाता है, और कोई दूसरा तीव्र मिठास की रुचि वाला जीव उसी दूध में खाण्ड मिलाकर पीने पर सन्तुष्ट होता है। वैसे ही जिस पुरुष को पदार्थों में जितना ममत्व-भाव/राग होगा, वह भावों की तीव्रता/मन्दता के अनुसार हिंसा का भागीदार होगा।

कोई बहुत आरम्भ, परिग्रह वाला जीव यह कहे कि हमारा परि-ग्रह अधिक है तो क्या हुआ, हमारा इनमें ममत्व नहीं है। उसका ऐसा कहना सर्वथा झूठ है, क्योंकि ममत्वभाव विना बहिरंग पदार्थों का संग्रह नहीं हो सकता। हिंसा में तो यह संभव है कि परिणामों के विना बाह्य निमित्त से अन्य जीव का घात हो जाये और अन्तरंग शुद्ध ही रहे, परन्तु ममत्वभाव के विना बाह्य पदार्थों का संग्रह संभव नहीं। परिणामों को ममत्वभाव से बचाने के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग करना ही चाहिये।

परिग्रह के त्याग करने का उपाय—

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥
॥ ४-८८-१२४ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रथमम्**) पहले (**एव**) ही (**तत्त्वार्थाश्रद्धाने**) तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने (**निर्युक्तं**) संयुक्त किया है ऐसा (**मिथ्या-त्वम्**) मिथ्यात्व (**च**) और (**सम्यग्दर्शनचौराः**) सम्यग्दर्शन के चोर (**चत्वारः**) चार (**प्रथमकषायाः**) प्रथम कषाय—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ हैं।

अर्थ—पहले ही तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने संयुक्त किया है—ऐसा मिथ्यात्व, और सम्यग्दर्शन के चोर चार प्रथम कषाय—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक में अन्तरंग परिग्रह के त्याग का उपाय तथा क्रम बताया गया है। अन्तरंग परिग्रह में सबसे पहले मिथ्यात्व है और उसके पश्चात् चारित्रमोहनीय का प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ—ये चार हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का घात करने वाली ये पाँच प्रकृतियाँ हैं। जब तक इनका अभाव नहीं होता तब तक तत्त्वार्थों का अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान बना रहेगा—यही मिथ्यात्व दशा है। उपर्युक्त पाँच प्रकृतियों के उदयकाल में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं।

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म बहुत बलवान है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय तथा दूसरा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—(१) मिथ्यात्व (२) सम्यग्मिथ्यात्व तथा (३) सम्यक्त्वप्रकृति। चारित्र मोहनीय के कषाय और नोकषाय—ऐसे दो भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी तथा संज्वलन के भेद से कषाय के चार भेद हैं; तथा इनके भी प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कषाय के सोलह भेद हो जाते हैं। नोकषाय के नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद तथा पुरुषवेद। इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी देशचारित्र का, प्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी सकल चारित्र का तथा संज्वलन चौकड़ी तथा नौ नोकषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती हैं।

अन्तरंग परिग्रह का त्याग करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तभी उसे तत्त्वार्थों का यथार्थ श्रद्धान होता है। मिथ्यादृष्टि जीव के भी दो भेद हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि तथा दूसरा सादि मिथ्यादृष्टि। जिसको अभी तक कभी

भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई, उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जिसको एक बार सम्यग्दर्शन होकर छूट गया है उसे सादिमिथ्या-दृष्टि कहते हैं। जब अनादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो वह पांच प्रकृतियों (मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चौकड़ी) का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय रूप अभाव करके सम्यग्दृष्टि बनता है। जब सादि मिथ्यादृष्टि पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो वह सात अथवा छह अथवा पाँच प्रकृतियों का उपशमादि रूप अभाव करके सम्यग्दृष्टि बनता है। अनन्त संसार का कारण होने से 'अनन्तानुबन्धी' नाम रखा गया है। इस प्रकार अन्तरंग परिग्रह के त्याग में सर्वप्रथम ही उपर्युक्त पाँच/सात प्रकृतियों का उपशमादि रूप अभाव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि वही पुरुषार्थ की सिद्धि का मूल साधन है।

अवशेष भेद—

> प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।
> नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति॥
> ॥ ४-८६-१२५ ॥

अन्वयार्थ—(च) और (द्वितीयान्) दूसरी कषाय—अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ को (प्रविहाय) छोड़कर (देशचरित्रस्य) एकदेश चारित्र के (सन्मुखायातः) सन्मुख आता है (हि) क्योंकि (ते) वे (कषायाः) कषाय (नियतं) निश्चय ही (देशचरित्रं) एकदेश चारित्र को (निरुन्धन्ति) रोकते हैं।

अर्थ—और दूसरी कषाय—अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया लोभ को छोड़कर एकदेश चारित्र के सन्मुख आता है, क्योंकि वे कषाय निश्चय ही एकदेश चारित्र को रोकती हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के पश्चात् जीव एकदेश चारित्र की प्रतिपक्षी दूसरी अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव करके एकदेश चारित्र—श्रावक के व्रत ग्रहण

करता है। अप्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी का अभाव किये विना एक-देश चारित्र नहीं होता।

निजशक्ति से अन्तरंग परिग्रह का त्याग करना चाहिए—

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरंगसंगानाम्।
कर्त्तव्यःपरिहारो मार्दवशौचादिभावनया॥
॥ ४-९०-१२६ ॥

अन्वयार्थ--(**निजशक्त्या**) अपनी शक्ति अनुसार (**मार्दव-शौचादिभावनया**) मार्दव, शौच आदि दशलक्षण की भावना द्वारा (**शेषाणां**) शेष (**सर्वेषाम्**) सभी (**अन्तरंगसंगानाम्**) अन्तरंग परि-ग्रहों का (**परिहारः**) त्याग (**कर्त्तव्य**) करना चाहिए।

अर्थ -अपनी शक्ति अनुसार मार्दव, शौच आदि दशलक्षण धर्म की भावना द्वारा शेष सभी अन्तरंग परिग्रहों का त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ -पूर्वकथित एकदेश चारित्र—श्रावक के व्रतों को धारण करके सम्यग्दृष्टि जीव को अपने परिणामों की निरन्तर वृद्धि करनी चाहिये। फिर अपनी शक्ति अनुसार मार्दव आर्जव, शौचादि भावनाओं के द्वारा आत्म-बल को प्रकट करके प्रत्याख्यानावरणी समस्त कषायों का अभाव करके महाव्रत रूप मुनिधर्म का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जीव शनैः शनै पूर्णतया निष्कषाय होकर अपने आत्म-स्वभाव में लीन होकर पुरुषार्थ को सिद्धि करने में सफल हो सकता है।

बाह्य परिग्रह के त्याग का क्रम—

बहिरंगादपि संगात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा॥
॥ ४-९१-१२७ ॥

अन्वयार्थ—(वा) तथा (तम्) उस बहिरंग परिग्रह को (अचित्तं) चाहे अचेतन हो (वा) या (सचित्तं) सचेतन हो (अशेषं) सम्पूर्ण रूप से (परिवर्जयेत्) छोड़ देना चाहिये (यस्मात्) क्योंकि (बहिरंगात्) बहिरंग (संगात्) परिग्रह से (अपि) भी (अनुचितः) अयोग्य (असंयमः) असंयम (प्रभवति) होता है।

अर्थ—तथा उस बहिरंग परिग्रह को, चाहे अचेतन हो या सचेतन हो, सम्पूर्ण रूप से छोड़ देना चाहिए, क्योंकि बहिरंग परिग्रह से भी अयोग्य असंयम होता है।

विशेषार्थ—श्लोक संख्या ४-८१-११७ में बहिरंग परिग्रह का विस्तार से वर्णन कर आये हैं। इनमें संसार के प्रायः समस्त पदार्थ आ जाते हैं। जब तक चेतन-अचेतन रूप बहिरंग परिग्रह रहता है तब तक संयम का पूर्णतया पालन नहीं हो सकता। पदार्थों के प्रति ममत्वभाव बना रहता है। अतः निर्दोष संयम के पालन के लिये चेतन-अचेतन समस्त परिग्रह को सम्पूर्ण रूप से छोड़ देना चाहिए।

यदि सर्वदेश त्याग संभव न हो सके तो एकदेश त्याग अवश्य करें—

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्॥
॥ ४-९२-१२८ ॥

अन्वयार्थ—(अपि) और (यः) जो (धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः) धन, धान्य, मनुष्य, घर, सम्पदा इत्यादि परिग्रह (त्यक्तुं) सर्वथा छोड़ना (न शक्यः) शक्य न हो (सः) तो उसे (अपि) भी (तनूकरणीयः) कम कर देना चाहिए (यतः) क्योंकि तत्त्वम्) वस्तु का स्वरूप (निवृत्तिरूपं) निवृत्तिरूप—त्यागरूप ही है।

अर्थ—और जो धन-धान्य, मनुष्य, घर, सम्पदा इत्यादि परिग्रह सर्वथा छोड़ना शक्य न हो, तो उसे भी कम कर देना चाहिये, क्योंकि वस्तु का स्वरूप निवृत्तिरूप—त्याग रूप ही है।

विशेषार्थ—परिग्रह के त्याग के भी दो प्रकार हैं—एक सर्वदेश त्याग जोकि मुनिधर्म पालन में ही संभव है, तथा दूसरा एकदेश त्याग जिसे गृहस्थ/श्रावक ग्रहण करते हैं। यदि बन सके तो पूर्वकथित धन-धान्यादि दस प्रकार के चेतन-अचेतन परिग्रह का सर्वदेश त्याग ही उत्तम है, यदि कदाचित् यह न बन सके तो एकदेश त्याग अवश्य करना चाहिए। एकदेश त्याग का अर्थ है परिग्रहपरिमाण। अपनी आवश्यकतानुसार उक्त प्रकार के पदार्थों का परिमाण करके, उतनी ही मात्रा में रखना चाहिए तथा शेष का त्याग कर देना चाहिए। जितने अंशों में वस्तुओं के प्रति ममत्व/रागभाव कम करके उनका त्याग करेंगे, उतने ही अंशों में रागादि कम होकर वीतरागता बढ़ेगी। तत्त्व तो त्याग रूप/निवृत्ति रूप ही है। जब तक यह आत्मा त्याग धर्म को अपनाकर अपने निर्मल श्रद्धान-ज्ञान रूप शुद्ध परिणति को नहीं पाता, तब तक मोक्ष का उपाय नहीं बनता। निश्चय दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा को परवस्तु का त्याग ही है। हमने अपने ममत्व/रागभाव से परवस्तु को पकड़ रखा है। अतः बाह्य वस्तुओं में ममत्वभाव कम करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

रात्रिभोजन-त्याग—

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥

॥ ४-६३-१२६ ॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात्**) क्योंकि (**रात्रौ**) रात में (**भुञ्जानानां**) भोजन करने वालों को (**हिंसा**) हिंसा (**अनवारिता**) अनिवार्य (**भवति**) होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**हिंसाविरतैः**) हिंसा के त्यागियों को (**रात्रिभुक्तिः अपि**) रात्रि-भोजन का भी (**त्यक्तव्या**) त्याग करना चाहिए।

अर्थ—क्योंकि रात में भोजन करने वालों को हिंसा अनिवार्य होती है, इसलिए हिंसा के त्यागियों को रात्रि-भोजन का भी त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ—रात्रि में भोजन करने से जीवों की हिंसा अनिवार्य है, अर्थात् अवश्य ही होती है। पतंगे इत्यादि ऐसे बहुत से छोटे-छोटे जीव हैं, जो रात में घूमते हैं तथा रोशनी के पास प्रायः आते हैं। रात्रि-भोजन बनाने तथा खाने में उन असंख्य जीवों की हिंसा होती है। इसलिए रात्रि में भोजन बनाने-खाने का त्याग अहिंसा-पालन करने वाले के लिए अनिवार्य है।

रात्रि-भोजन में भावहिंसा—

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति॥

॥ ४-६४-१३० ॥

अन्वयार्थ—(**रागाद्युदयपरत्वात्**) रागादि भावों के उदय की उत्कृष्टता से (**अनिवृत्तिः**) अत्याग भाव (**हिंसाम्**) हिंसा का (**न अतिवर्तते**) उल्लंघन करके नहीं प्रवर्त्तते, तो (**रात्रिंदिवम्**) रात और दिन (**आहरतः**) आहार करने वाले को (**हि**) निश्चय ही (**हिंसा**) हिंसा (**कथं**) क्यों (**न संभवति**) नहीं संभव होगी।

अर्थ—रागादि भावों के उदय की उत्कृष्टता से अत्यागभाव हिंसा का उल्लंघन करके नहीं प्रवर्त्तते, तो रात और दिन आहार करने वाले को निश्चय ही हिंसा क्यों नहीं संभव होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

विशेषार्थ—जब किसी जीव के रागादि भावों का उत्कृष्ट/तीव्र उदय होता है तो उसके अत्यागभाव होता है, अर्थात् वह त्याग नहीं कर सकता। जो जीव रसना इन्द्रिय के विषय में अति आसक्त हैं और रात-दिन खाने-पीने में लगे रहते हैं उनके हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि जहाँ रागभाव है, वहाँ हिंसा अनिवार्य है। रागादि भावों का होना ही भावहिंसा का लक्षण है।

शंका—

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥
॥ ४-९५-१३१ ॥

अन्वयार्थ—(**यदि एवं**) यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है (**तर्हि**) तब तो (**दिवा भोजनस्य**) दिन में भोजन करने का (**परिहारः**) त्याग (**कर्त्तव्यः**) कर देना चाहिये (**तु**) और (**निशायां**) रात में (**भोक्तव्यं**) भोजन करना चाहिये क्योंकि (**इत्थं**) इस तरह से (**हिंसा**) हिंसा (**नित्यं**) सदाकाल (**न भवति**) नहीं होगी।

अर्थ—यदि ऐसा है, अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है, तब तो दिन में भोजन करने का त्याग कर देना चाहिए और रात में भोजन करना चाहिए, क्योंकि इस तरह से हिंसा सदाकाल नहीं होगी।

विशेषार्थ—यहाँ कोई कुतर्की शंका करता है कि यदि दिन-रात सदाकाल भोजन करने में हिंसा होती है तो दिन में भोजन का त्याग करके रात में ही भोजन करना चाहिए ताकि सतत (दिन-रात) हिंसा न हो। इसका उत्तर अगले श्लोक में कहेंगे।

शंका का समाधान—

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥
॥ ४-९६-१३२ ॥

अन्वयार्थ—(**एवं न**) ऐसा नहीं है, क्योंकि (**अन्नकवलस्य**) अन्न के ग्रास के (**भुक्तेः**) खाने से (**मांसकवलस्य**) मांस के ग्रास (**भुक्तौ इव**) खाने में जिस प्रकार राग अधिक होता है, उसी प्रकार (**वासर-**

भुक्तेः) दिन के भोजन की अपेक्षा (**रजनिभुक्तौ**) रात्रि-भोजन में (**हि**) निश्चय ही (**रागः अधिकः**) अधिक राग होता है।

अर्थ—ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्न के ग्रास के खाने से मांस के ग्रास खाने में जिस प्रकार राग अधिक होता है, उसी प्रकार दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रि-भोजन में निश्चय ही अधिक राग होता है।

विशेषार्थ—शंकाकार की शंका ठीक नहीं है। पेट भरने की अपेक्षा तो शाकाहार और मांसाहार दोनों भोजन बराबर हैं। दूध, फल, अन्न आदि शाकाहार तो सर्वसाधारण को सहज ही सुलभ हैं, इसलिए इनके खाने में रागभाव कम है। मांसाहार सहज सुलभ नहीं है, उनके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है तथा उसमें कामादिक अथवा शरीर-पोषण की अपेक्षा से अधिक रागभाव पाया जाता है। इसी प्रकार दिन में भोजन सब प्राणियों को सहज ही सुलभ है, इसलिए उसमें रागभाव कम होते हैं। रात्रि-भोजन में शरीर-पोषण अथवा कामादिक की अपेक्षा से रागभाव अधिक होता है। अतः रात्रि भोजन में अधिक रागभाव के कारण तथा सूक्ष्म जीवों के घात के कारण हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त दिन में खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पचता है, जिससे स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसलिए दिन में भोजन करना ही श्रेयस्कर है।

रात्रि-भोजन में द्रव्य हिंसा—

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥
॥ ४-६७-१३३ ॥

अन्वयार्थ—(**अर्कालोकेन विना**) सूर्य के प्रकाश बिना रात में (**भुञ्जानः**) भोजन करने वाला मनुष्य (**बोधितः प्रदीपे**) जलते हुए दीपक में (**अपि**) भी (**भोज्यजुषां**) भोजन में मिले हुए (**सूक्ष्मजीवानाम्**) सूक्ष्म जीवों की (**हिंसाम्**) हिंसा (**कथं**) किस प्रकार (**परिहरेत्**) टाल सकता है?

अर्थ—सूर्य के प्रकाश विना रात में भोजन करने वाला मनुष्य जलते हुए दीपक (के प्रकाश) में भी भोजन में मिले हुए सूक्ष्म जीवों की हिंसा किस प्रकार टाल सकता है? अर्थात् नहीं टाल सकता।

विशेषार्थ—सूर्य के प्रकाश के अभाव में यदि दीपक अथवा बिजली के प्रकाश में अत्यन्त सावधानी रक्खी जाये तो भी भोजन में रोशनी के सम्बन्ध से तथा खाद्य पदार्थ के सम्बन्ध से आने वाले छोटे-छोटे पतंगे तथा मच्छर आदि अवश्य गिरते हैं, जिनका घात निश्चित ही है। यदि दीपक इत्यादि की रोशनी के विना ही अन्धेरे में कोई भोजन करता है तो उसके आहार मे चूहा, छिपकली आदि बड़े जीव भी गिर पड़ें तो उनका पता नहीं चलता, जिसके परिणामस्वरूप भोजन खाने वाले व्यक्तियों की मृत्यु की घटनायें रोज ही सुनने-देखने में आती हैं। रात में भोजन करने वाले जीव द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की हिंसा का भागी हैं। अतः अहिंसाव्रत पालन के लिए रात्रि भोजन का त्याग अवश्य करना चाहिये।

रात्रिभोजन त्याग में अहिंसा का पालन—

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति॥
॥ ४-६८-१३४ ॥

अन्वयार्थ—(**वा**) अथवा (**बहुप्रलपितैः**) बहुत प्रलाप से (**किं**) क्या? (**यः**) जो पुरुष (**मनोवचनकायैः**) मन, वचन और काय से (**रात्रिभुक्तिं**) रात्रि-भोजन का (**परिहरति**) त्याग करता है (**सः**) वह (**सततम्**) निरन्तर (**अहिंसां**) अहिंसा का (**पालयति**) पालन करता है (**इति सिद्धं**) ऐसा सिद्ध हुआ।

अर्थ—अथवा बहुत प्रलाप से क्या? जो पुरुष मन, वचन और काय से रात्रि-भोजन का त्याग करता है, वह निरन्तर अहिंसा का पालन करता है। ऐसा सिद्ध हुआ।

विशेषार्थ—आचार्यश्री कहते हैं कि बहुत कहने से कोई लाभ नहीं है। यह बात निर्बाध सिद्ध होती है कि जो पुण्यात्मा मन, वचन और काय से रात्रि-भोजन का परित्याग करता है, वही अहिंसाव्रत का निरन्तर पालन करता है। रात्रि में भोजन खाने की अपेक्षा रात्रि में भोजन पकाने में बहुत जीवों की हिंसा होती है, इसलिए व्रती पुरुष को सबसे पहले इसका त्याग करना चाहिये। बाजार के बने हुये पदार्थों का त्याग करना भी अति आवश्यक है। वास्तव में रात्रि में भोजन पकाने, खाने तथा बाजार के बने हुए पदार्थों के त्याग विना अहिंसाव्रत का पालन संभव ही नहीं है। कोई आचार्य तो रात्रि भोजन के त्याग को अहिंसाणुव्रत में शामिल करते हैं तथा कोई इसे स्वतन्त्र रूप से छठा अणुव्रत कहते हैं।

इस प्रकार रत्नत्रयात्मक मार्ग में लगे हुए जीव शीघ्र ही मोक्ष में गमन करते हैं—

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥
॥ ४-६६-१३५ ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**अत्र**) इस लोक में (**ये**) जो (**स्वहितकामाः**) अपने हित की कामना करने वाले (**मोक्षस्य**) मोक्ष के (**त्रितयात्मनि**) रत्नत्रयात्मक (**मार्गे**) मार्ग में (**अनुपरतं**) सर्वदा विना रुके-- निरन्त (**प्रयतन्ते**) प्रयत्न करते हैं (ते) वे पुरुष (**अचि-रेण**) शीघ्र ही (**मुक्तिम्**) मोक्ष को (**प्रयान्ति**) गमन करते हैं।

अर्थ—इस प्रकार इस लोक में जो अपने हित की कामना करने वाले, मोक्ष के रत्नत्रयात्मक मार्ग में सर्वदा विना रुके हुए—निरन्तर प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष शीघ्र ही मोक्ष को गमन करते हैं।

विशेषार्थ—जीव का हित मोक्ष-प्राप्ति में ही है। इस लोक में अपने हित की कामना करने वाले जो भव्यजीव पूर्व कथन के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का सतत—निरन्तर

अनुसरण करते हैं, वे शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। संसार में कहीं भी सुख नहीं है। जो जीव सच्चे सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सम्यक्चारित्र को धारण करते हैं, वे जल्दी ही मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

इस प्रकार पांच पापों के त्यागरूप पांच अणुव्रतों तथा रात्रि भोजन त्याग का वर्णन समाप्त हुआ।

शीलव्रत (गुणव्रत और शिक्षाव्रत) अहिंसाणुव्रतादि की रक्षा करते हैं—

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥
॥ ४-१००-१३६ ॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय ही (**परिधयः इव**) जैसे कोट, किला (**नगराणि**) नगरों की रक्षा करता है, उसी तरह (**शीलानि**) शीलव्रत—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये सात व्रत (**व्रतानि**) पाँचों अणुव्रतों का (**पालयन्ति**) पालन अर्थात् रक्षण करते हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**व्रतपालनाय**) व्रतों का पालन करने के लिए (**शीलानि**) सात शीलव्रतों का (**अपि**) भी (**पालनीयानि**) पालन करना चाहिये।

अर्थ—निश्चय ही जैसे कोट-किला नगरों की रक्षा करता है, उसी तरह शीलव्रत—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये सात व्रत पाँचों अणुव्रतों का पालन अर्थात् रक्षण करते हैं। इसलिए व्रतों का पालन करने के लिए सात शीलव्रतों का भी पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोट-किला नगरों की रक्षा करता है, अथवा खेत के चारों ओर लगाई हुई बाड़ खेती की रक्षा करती है,

उसी प्रकार सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करते हैं। इसलिए पाँच अणुव्रतों के साथ-साथ शील व्रतों का भी पालन अवश्य करना चाहिये। गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेद से शीलव्रत दो प्रकार के हैं। (१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत तथा (३) अनर्थदण्डत्यागव्रत—ये तीन गुणव्रत हैं तथा (१) सामायिक, (२) प्रोषधोपवास, (३) भोगोप-भोग परिमाणव्रत तथा (४) वैयावृत्य/अतिथि संविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं। आगे के श्लोकों में इन व्रतों का स्वरूप कहेंगे।

दिग्व्रत नामक पहले गुणव्रत का स्वरूप—

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्य कर्त्तव्या विरतिरविचलिता॥
॥ ४-१०१-१३७ ॥

अन्वयार्थ—(**सुप्रसिद्धैः**) भली प्रकार प्रसिद्ध (**अभिज्ञानैः**) ग्राम, नदी, पर्वत आदि भिन्न-भिन्न लक्षणों से (**सर्वतः अपि**) सभी दिशाओं में (**मर्यादां**) मर्यादा (**प्रविधाय**) करके (**प्राच्यादिभ्यः**) पूर्वादि (**दिग्भ्यः**) दिशाओं में (**अविचलिता विरतिः**) गमन न करने की प्रतिज्ञा (**कर्त्तव्या**) करनी चाहिये।

अर्थ—भली प्रकार प्रसिद्ध ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से सभी दिशाओं में मर्यादा करके पूर्वादि दिशाओं में गमन न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

विशेषार्थ—प्रथम गुणव्रत का नाम 'दिग्व्रत' है। 'दिग्' का अर्थ है दिशा। जिसमें चारों दिशाओं में (पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण), चारों विदिशाओं में (दक्षिणपूर्व, दक्षिणपश्चिम, उत्तर-पश्चिम तथा उत्तरपूर्व) तथा ऊपर नीचे—इस प्रकार दशों दिशाओं में गमनागमन की सीमा निर्धारित करके यह प्रतिज्ञा की जाती है कि 'मैं जीवन पर्यन्त इन दस दिशाओं में मर्यादित की गई सीमा के बाहर नहीं जाऊँगा', उसे 'दिग्व्रत' कहते हैं। यह प्रतिज्ञा दिशाओं

और विदिशाओं में सुप्रसिद्ध नदी, पर्वत, नगर आदि से सीमा बांधकर की जाती है। पर्वत इत्यादि अथवा वायुयान में बैठकर जाने की अपेक्षा ऊपर की तथा खान या बावड़ी इत्यादि की अपेक्षा नीचे की सीमा निर्धारित की जाती है। व्रतधारी पुरुष इन निर्धारित सीमाओं के बाहर नहीं जाता।

दिग्व्रत पालन का फल—

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥
॥ ४-१०२-१३८ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**इति**) इस प्रकार (**नियमितदिग्भागे**) मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर (**प्रवर्तते**) रहता है (**तस्य**) उस पुरुष को (**ततः**) उस क्षेत्र के (**बहिः**) बाहर के (**सकलासंयम-विरहात्**) समस्त असंयम के त्याग के कारण (**पूर्णम्**) पूर्ण रूप से (**अहिंसाव्रतं**) अहिंसाव्रत (**भवति**) होता है।

अर्थ—जो इस प्रकार मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर रहता है, उस पुरुष को उस क्षेत्र के बाहर के समस्त असंयम के त्याग के कारण पूर्ण रूप से अहिंसाव्रत होता है।

विशेषार्थ—दिग्व्रत का धारण करने वाला पुरुष दशों दिशाओं में मर्यादित किए गये क्षेत्र में ही कार्य करता है। मर्यादित क्षेत्र के बाहर सब ही प्रकार के असंयम (आरंभ आदि जनित पाप) का त्याग होने के कारण उसके अहिंसा महाव्रत पल जाता है, क्योंकि उस क्षेत्र में सभी सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं। इस प्रकार अणुव्रत भी महाव्रत का फल देता है। दिग्व्रत का पालन अहिंसाव्रत को पुष्ट करता है।

देशव्रत नामक दूसरे गुणव्रत का स्वरूप—

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥
॥ ४-१०३-१३९ ॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**तत्र अपि**) उस दिग्व्रत में भी (**ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्**) ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का (**परिमाणं**) परिमाण (**प्रविधाय**) करके (**देशात्**) मर्यादा किए हुये क्षेत्र से बाहर (**नियतकालं**) निर्धारित समय तक जाने का (**विरमणं**) त्याग (**करणीयं**) करना चाहिये।

अर्थ—और उस दिग्व्रत में भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का परिमाण करके मर्यादा किये हुये क्षेत्र से बाहर निर्धारित समय तक जाने का त्याग करना चाहिये।

विशेषार्थ—दूसरे गुणव्रत को 'देशव्रत' कहते हैं। दिग्व्रत और देशव्रत में इतना ही अन्तर है कि दिग्व्रत में जो त्याग किया जाता है वह जीवनपर्यन्त होता है, परन्तु देशव्रत में काल की मर्यादा सहित क्षेत्र का त्याग किया जाता है। अर्थात् एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, छह मास अथवा एक वर्ष इत्यादि की निश्चित अवधि के लिए त्याग किया जाता है। दिग्व्रत में जितने क्षेत्र की मर्यादा की गई थी, देशव्रत में उस मर्यादा का भी संकोच करके (घटाकर) दिग्व्रत की मर्यादा के अन्दर भी मर्यादा निर्धारित की जाती है। 'मैं अमुक समय तक अमुक ग्राम, बाजार अथवा मोहल्ला इत्यादि तक ही जाऊँगा'। इस प्रकार प्रतिज्ञा करना देशव्रत है। देशव्रत से भी अहिंसाव्रत की पुष्टि होती है।

देशव्रत में विशेषरूप से अहिंसाव्रत का पालन—

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण॥
॥ ४-१०४-१४० ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**बहुदेशात् विरतः**) बहुत क्षेत्र का त्याग करने वाला (**विमलमतिः**) निर्मलबुद्धि श्रावक (**तत्कालं**) उस निर्धारित काल में (**तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्**) मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होने वाली हिंसा-विशेष के त्याग से (**विशेषेण**) विशेष-

रूप से (अहिंसां) अहिंसाव्रत का (श्रयति) आश्रय करता है—पालता है।

अर्थ—इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्याग करने वाला निर्मलबुद्धि श्रावक उस निर्धारित काल में, मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होने वाली हिंसा-विशेष के त्याग से विशेषरूप से अहिंसाव्रत का आश्रय करता है—पालता है।

विशेषार्थ—दिग्व्रत में मर्यादित क्षेत्र बहुत बड़ा होता है। इतने बड़े क्षेत्र में प्रतिदिन गमनागमन नहीं होता। इसलिये निर्मलबुद्धि वाला श्रावक रोजाना ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं आज अमुक बाजार या मोहल्ले तक ही जाऊँगा। अथवा अमुक गाँव में अमुक समय तक रहूँगा, इसके बाहर नहीं जाऊँगा'। जिस प्रकार दिग्व्रत में मर्यादित क्षेत्र के बाहर अहिंसा का सर्वथा त्याग हो जाता है, उसी प्रकार देशव्रत में भी मर्यादित क्षेत्र के बाहर कदाचित् हिंसा का त्याग होने से यह (देशव्रत) अणुव्रत होते हुए भी महाव्रतपने को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में यह कथन औपचारिक/व्यावहारिक है, परमार्थ नहीं, क्योंकि महाव्रत तो प्रत्याख्यानावरणी चौकड़ी के अभाव में छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज को ही होते हैं, उससे नीचे पद में नहीं होते। श्रावक अणुव्रतधारी होने से संयतासंयत ही है।

अनर्थदण्डत्याग व्रत नामक तीसरे गुणव्रत का स्वरूप तथा भेद—

जिन कार्यों से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उन्हें 'अनर्थ' कहते हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति 'दण्ड' कहलाती है। अर्थात् विना किसी प्रयोजन के मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को 'अनर्थ-दण्ड' कहते हैं। इस प्रकार पाप के उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति का त्याग 'अनर्थदण्डत्यागव्रत' कहलाता है। उसके पाँच भेद हैं—(१) अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत, (२) पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत, (३) प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत, (४) हिंसादानअनर्थदण्डत्यागव्रत तथा (५) दुःश्रुतिअनर्थदण्डत्यागव्रत।

अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारागमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥
॥ ४-१०५-१४१ ॥

अन्वयार्थ — (**पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारागमनचौर्याद्याः**) शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का (**कदाचनापि**) किसी भी समय (**न चिन्त्याः**) चिन्तन नहीं करना चाहिये (**यस्मात्**) क्योंकि इन अपध्यानों का (**केवलं**) केवल (**पापफलं**) पाप ही फल है ।

अर्थ—शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का किसी भी समय चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन अपध्यानों का केवल पाप ही फल है ।

विशेषार्थ—यह तीसरे गुणव्रत अनर्थदण्डत्यागव्रत के प्रथम भेद 'अपध्यानानर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप है । अपध्यान का अर्थ है खोटा ध्यान । मन में राग-द्वेष के कारण दुर्विचारों का आना ही अपध्यान है । अपध्यान करने से किसी का भला-बुरा तो संभव नहीं है, परन्तु इसमें मानसिक हिंसा होने से व्यर्थ ही पाप का बन्ध अनिवार्य रूप से होता रहता है । अतः शिकार करने के, किसी के जीत के और किसी के हार के, युद्ध के, परस्त्री-सेवन के अथवा चोरी आदि के तथा अन्य भी किसी के छेदन, भेदन, बन्धन इत्यादि का चिन्तन करना अथवा ऐसे परिणाम करना—ये सब ही अपध्यान होने से पाप बन्ध के कारण हैं । अतः विशेष सावधानी पूर्वक इन कुविचारों/कुपरिणामों का त्याग करना ही चाहिये । यही अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत कहलाता है ।

पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥
॥ ४-१०६-१४२ ॥

अन्वयार्थ—(**विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां**) विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह करने वाले (**पुंसाम्**) पुरुषों को (**पापोपदेशदानं**) पाप का उपदेश देने वाले वचन (**कदाचित् अपि**) किसी भी समय (**नैव**) नहीं (**वक्तव्यम्**) बोलना चाहिये।

अर्थ—विद्या, व्यापार लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह करने वाले पुरुषों को पाप का उपदेश देने वाले वचन किसी भी समय अर्थात् कभी भी नहीं बोलना चाहिये।

विशेषार्थ—यह 'पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत' का स्वरूप है। किसी व्यक्ति को आजीविका सम्बन्धी नाना प्रकार के आरम्भ कार्य करने का उपदेश देना 'पापोपदेश' कहलाता है। उपदेश सुनकर लोग पापयुक्त कार्यों में लगते हैं। ऐसे उपदेश से स्वयं को तो कुछ लाभ नहीं होता, जीवों को हिंसा का कारण होने से पापकर्म का बन्ध ही होता है। इसलिये वैद्यक, ज्योतिष इत्यादि विद्या से, पशुपालन इत्यादि व्यापार से, लेखन कार्य से, खेती-बाड़ी से नौकरी-चाकरी से तथा लुहार, सुनार, दर्जी, बढ़ई इत्यादि कारीगरी के कार्यों से जीविका कमाने वालों को इन कार्यों सम्बन्धी तथा अन्य भी हिंसा जनक कार्यों का कभी भी उपदेश नहीं देना चाहिये। ऐसे समस्त उपदेशों का त्याग करना पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत कहलाता है।

प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च॥

॥ ४-१०७-१४३ ॥

अन्वयार्थ—(**भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि**) पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घास वाली भूमि रौंदना, पानी सींचना इत्यादि (**च**) और (**दलफलकुसुमोच्चयान्**) पत्ते फल और

फूल तोड़ना (अपि) इत्यादि भी (निष्कारणं) विना प्रयोजन (न कुर्यात्) नहीं करना चाहिये।

अर्थ—पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घास वाली भूमि रौंदना, पानी सींचना इत्यादि और पत्ते, फल और फूल तोड़ना इत्यादि भी विना प्रयोजन नहीं करना चाहिए।

विशेषार्थ—यह प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप है। निष्प्रयोजन असावधानीपूर्वक कोई भी कार्य करना 'प्रमादचर्या' है। श्रावक को अपनी आवश्यकतानुसार गृहस्थी सम्बन्धी आरम्भ कार्य करने ही पड़ते हैं। आरम्भ कार्य करते हुए वह त्रस जीवों की रक्षा तो करता ही है, परन्तु यथाशक्ति उसे स्थावर जीवों की भी रक्षा करनी चाहिये। निष्प्रयोजन उनका भी घात नहीं करना चाहिये। विना प्रयोजन भूमि खोदना-कुरेदना, वृक्ष उखाड़ना, घास पर चलना अथवा बैठे-बैठे घास चूंटना या उखेड़ना, पानी सींचना, उछालना, बावड़ी इत्यादि में घंटों में क्रीड़ा करना, वनस्पति—पत्ता, फल-फूल इत्यादि का व्यर्थ तोड़ना, अग्नि जलाना-बुझाना, बैठे-बैठे माचिस की तीली जलाना—इन सबको प्रमादचर्या कहते हैं। कुछ लोग केवल मनोरंजनादि के लिये उपर्युक्त क्रियाएँ करते देखे जाते हैं। इन क्रियाओं से अपना भी प्रयोजन/काम सिद्ध नहीं होता, परन्तु जीवों की हिंसा अवश्य होती है, जोकि पापकर्म बन्ध का कारण है। ऐसी निष्प्रयोजन क्रियाओं के त्याग को ही प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

हिंसाप्रदानअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥

॥४-१०८-१४४॥

अन्वयार्थ — (असिधेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम्) छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि (हिंसायाः) हिंसा के (उपकरणानां) उपकरणों का (वितरणम्) वितरण करना

—दूसरों को देना (यत्नात्) सावधानी से (परिहरेत्) छोड़ देना चाहिए।

अर्थ—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि हिंसा के उपकरणों का वितरण करना—दूसरों को देना सावधानो से छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ हिंसादानअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप कहा गया है। छुरी, तलवार, फरसा, गण्डासा, कुल्हाड़ा, विष, अग्नि, हल गेंती, फावड़ा, धनुष, पिस्तौल, बन्दूक इत्यादि पदार्थ हिंसा के साधन हैं। एक श्रावक/गृहस्थ अपनी रक्षा हेतु अथवा अन्य आरंभी कार्यों के लिए इन्हें अपने पास रख तो सकता है, परन्तु अन्य व्यक्ति को नहीं देना चाहिये। हो सकता है वह व्यक्ति इनका दुरुपयोग करके किसी का घर जलादे, अथवा विष देकर या अन्य प्रकार शस्त्र से किसी की हिंसा करदे, इसलिए इन उपकरणों का अन्य को देना 'हिंसादान' कहा गया है। जिन पदार्थों के देने से हिंसा की संभावना हो, उनके देने का त्याग करना 'हिंसादानअनर्थदण्डत्यागव्रत कहलाता है।

दुःश्रुतिअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥
॥ ४-१०६-१४५ ॥

अन्वयार्थ—(**रागादिवर्द्धनानां**) मोह, राग-द्वेष आदि को बढ़ाने वाली तथा (**अबोधबहुलानाम्**) बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई (**दुष्टकथानाम्**) दुष्ट कथाओं का (**श्रवण-अर्जन-शिक्षणादीनि**) सुनना, धारण करना, सीखना आदि (**कदाचन**) कभी भी (**न कुर्वीत**) नहीं करना चाहिये।

अर्थ—मोह, राग-द्वेष आदि को बढ़ाने वाली तथा बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई दुष्ट कथाओं का सुनना, धारण करना, सीखना आदि कभी भी नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—यह दुःश्रुतिअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप है। जिस शास्त्र अथवा कथा के सुनने-पढ़ने से चित्त में कलुषता उत्पन्न हो, मिथ्यात्व, राग-द्वेष तथा वैरभाव का पोषण हो, मोह, अहंकार, काम-सेवन इत्यादि विषय-कषायों की वृद्धि होती हो, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा तथा स्त्रीकथा आदि जिनसे संक्लेश उत्पन्न हों—उन्हें 'दुःश्रुति' कहते हैं। इनके पठन-पाठन तथा श्रवण आदि से मन में व्यर्थ ही कुविचार उत्पन्न होते हैं, जिनसे कोई प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता, परन्तु पापकर्म का बन्ध अवश्य होता है। अतः ऐसे शास्त्र इत्यादि का पठन-श्रवण का त्याग करना चाहिए। इसी को 'दुःश्रुति-अनर्थदण्डत्यागव्रत' कहते हैं।

जुआ भी त्यागना चाहिए—

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥
॥ ४-११०-१४६ ॥

अन्वयार्थ—(**सर्वानर्थप्रथमं**) सप्त व्यसनों में पहला—सब अनर्थों में मुख्य (**शौचस्य**) सन्तोष का (**मथनं**) नाश करने वाला (**मायायाः**) मायाचार का (**सद्म**) घर और (**चौर्यासत्यास्पदं**) चौर्य तथा असत्य का स्थान (**द्यूतम्**) ऐसे जुआ को (**दूरात्**) दूर ही से (**परि-हरणीयम्**) त्याग देना चाहिये।

अर्थ—सप्त व्यसनों में पहला—सब अनर्थों में मुख्य, सन्तोष का नाश करने वाला, मायाचार का घर और चोरी तथा असत्य का स्थान—ऐसे जुआ को दूर ही से त्याग देना चाहिये।

विशेषार्थ—आचार्यश्री जुआ का व्यसन त्यागने की प्रेरणा देते हुए उसके दोषों को बतलाते हैं। रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, घर-मकान आदि की हार-जीत की बाजी लगाकर क्रीड़ा करना 'जुआ' है। जिस कार्य के किये विना चित्त को चैन नहीं पड़े उसे 'व्यसन' कहते हैं। सप्तव्यसनों में सबसे पहले जुआ का नम्बर है। जुआ महान

निंद्य व्यसन है तथा समस्त पापों की जड़ है। जुआ खेलने वाला अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए झूठ बोलता है, चोरी करता है, मायाचार करता है, वेश्यागमन करता है, मदिरापान करता है तथा मांस भक्षण करता है। ऐसा कौनसा व्यसन है जो जुआरी में न पाया जाये। जुआ सब अनर्थों की जड़ है। तीव्र लोभ कषाय होने से सन्तोष नामक गुण का नाश करने वाला है। युधिष्ठर, भीम इत्यादि के तथा राजा नल इत्यादि के उदाहरण हमारे सामने हैं, जो अपना समस्त राज-पाट जुआ में लुटाकर वन-वन मारे-मारे फिरे तथा अनेक कष्टों को भोगा। जुआरी जीव महान पापों का संचय करता है, अतः जुआ का भी त्याग अवश्य करना चाहिये।

जो अनर्थदण्ड का त्याग करता है वह अहिंसाव्रत को प्राप्त करता है—

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते॥

॥ ४-१११-१४७ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो मनुष्य (**एवंविधम्**) इस प्रकार के (**अपरमपि**) तथा अन्य भी (**अनर्थदण्डं**) अनर्थदण्ड को (**ज्ञात्वा**) जानकर (**मुञ्चति**) छोड़ता है (**तस्य**) उसका (**अनवद्यं**) निर्दोष (**अहिंसाव्रतं**) अहिंसाव्रत (**अनिशं**) निरन्तर (**विजयम्**) विजय को (**लभते**) प्राप्त करता है।

अर्थ—जो मनुष्य इस प्रकार के तथा अन्य भी अनर्थदण्ड को जानकर छोड़ता है, उसका निर्दोष अहिंसाव्रत निरन्तर विजय को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—अब तक अनेक अनर्थदण्डों का वर्णन किया गया। इस श्लोक में आचार्यश्री प्रेरणा देते हैं कि उक्त अनर्थदण्डों के अलावा अन्य और भी जो निष्प्रयोजन पापक्रिया हैं उन्हें भी भली प्रकार परीक्षा करके—जानकर छोड़ देना चाहिए। जो भव्य जीव समस्त

अनर्थदण्डों का त्याग करता है, उसका अहिंसाव्रत निर्दोष पलता है तथा ऐसा जीव सदा ही पुण्य का बन्ध करके पापकर्मों की निर्जरा करता है, अत: अनर्थदण्डों का त्याग अवश्य करना चाहिये।

पहले सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप—

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्॥
॥ ४-११२-१४८ ॥

अन्वयार्थ—(**रागद्वेषत्यागात्**) रागद्वेष के त्याग से (**निखिलद्रव्येषु**) सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में (**साम्यम्**) समताभाव को (**अवलम्ब्य**) अंगीकार करके (**तत्त्वोपलब्धिमूलं**) आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण—ऐसी (**सामायिकं**) सामायिक (**बहुशः**) बहुत बार (**कार्यम्**) करनी चाहिए।

अर्थ—रागद्वेष के त्याग से सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समताभाव को अंगीकार करके आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण—ऐसी सामायिक बहुत बार करनी चाहिए।

विशेषार्थ—शिक्षाव्रतों में मुनिधर्म धारण करने की शिक्षा मिलती है, इसलिये इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। यह प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप है। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्रादि समस्त इष्टानिष्ट पदार्थों के प्रति रागद्वेष के त्यागपूर्वक समताभाव धारण करके निज-शुद्धात्म स्वरूप में एकता प्राप्त करना—मग्न होना, अथवा शुद्धात्म स्वरूप का जानना—अनुभव करना सामायिक है। सामायिक में समताभाव आवश्यक है, इसके विना सामायिक असंभव है। श्रावकों/गृहस्थों को ऐसी सामायिक दो या तीन बार अवश्य करनी चाहिये।

सामायिक कब और किस प्रकार करनी चाहिये—

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्॥
॥ ४-११३-१४९ ॥

अन्वयार्थ— (**तत्**) वह सामायिक (**रजनीदिनयोः अन्ते**) रात्रि और दिन के अन्त में—प्रातः काल और सन्ध्या काल में (**अवि-चलितम्**) एकाग्रतापूर्वक (**अवश्यं**) अवश्य (**भावनीयम्**) करनी चाहिये (**पुनः**) और यदि (**इतरत्र समये**) अन्य समय में भी (**कृतं**) करी जाये तो (**तत्कृतम्**) वह सामायिक कार्य (**दोषाय**) दोष के लिए (**न**) नहीं है बल्कि (**गुणाय**) गुण के लिए ही होती है।

अर्थ—वह सामायिक रात्रि और दिन के अन्त में—प्रातःकाल और सन्ध्याकाल में एकाग्रतापूर्वक अवश्य करनी चाहिए, और यदि अन्य समय में भी करी जाये, तो वह सामायिक कार्य दोष के लिए नहीं है बल्कि गुण के लिए ही होती है।

विशेषार्थ—यूँ तो सामायिक किसी समय भी जब इच्छा हो की जा सकती है, इससे लाभ ही लाभ है, कोई नुकसान नहीं है। परन्तु गृहस्थ दिन भर कार्यों में व्यस्त रहता है, इसलिये उसके लिए प्रातः तथा सन्ध्या दोनों काल सामायिक करने की आज्ञा दी गई है। अतः श्रावक को दो समय अथवा तीन समय उत्कृष्ट छह घड़ी, मध्यम चार घड़ी अथवा जघन्य दो घड़ी तक पाँचों पापों का, आरंभ तथा परिग्रह का त्याग करके समताभाव पूर्वक एकान्त निर्जन स्थान में सामायिक करनी चाहिये। सामायिक के लिये क्षेत्रशुद्धि, काल-शुद्धि, आसनशुद्धि, विनयशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा भावशुद्धि—इन आठ शुद्धियों का होना आवश्यक है। इनके बिना भाव निर्मल और निश्चल नहीं हो पाते हैं। इन आठ शुद्धियों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

(१) क्षेत्रशुद्धि—जिस क्षेत्र में सामायिक करें, उसका चुनाव एकाग्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यह स्थान स्त्री-पुरुष के आवागमन, बच्चों के कोलाहल तथा सर्दी-गरमी और मच्छर-मक्खी की बाधा रहित, एकान्त तथा निर्जन होना चाहिए।

(२) कालशुद्धि—सही समय पर सामायिक प्रारम्भ तथा समाप्त करना 'कालशुद्धि' है। जितने सामायिक काल को प्रतिज्ञा

की गई हो उसका आधा समय सूर्योदय से पहले तथा आधा समय सूर्योदय के पश्चात् तक सामायिक करना चाहिये। इसी प्रकार सन्ध्या काल में भी आधा समय सूर्य-अस्त होने से पहले तथा आधा समय सूर्य-अस्त के बाद तक सामायिक में बिताना चाहिए।

(३) आसनशुद्धि—जिस आसन से सामायिक प्रारम्भ करें उसी में स्थिर रहना, उससे चलायमान नहीं होना, हिलना-डलना नहीं 'आसनशुद्धि' है।

(४)— विनयशुद्धि—सामायिक क्रिया में श्रद्धा, भक्ति, रुचि और विनयपूर्वक प्रवर्तन करना 'विनयशुद्धि है। सामायिक को बेगार समझकर नहीं करना चाहिए।

(५) मनशुद्धि—मन से रागद्वेष का, पाँचों पापों का तथा इष्टानिष्ट बुद्धि का त्याग करना, मन से खोटा चिन्तन नहीं करना अथवा मन को अन्यथा नहीं भटकाना 'मनशुद्धि' है।

(६) वचनशुद्धि—समस्त खोटे वचनों का त्याग करना, सामायिक पाठ/मंत्र का शुद्ध उच्चारण करना 'वचन शुद्धि' है। वचन की प्रवृत्ति रोककर मौन धारण करना चाहिये।

(७) कायशुद्धि—शरीर की स्वच्छता का होना भी आवश्यक है। शरीर की स्वच्छता का मन पर भारी प्रभाव पड़ता है। ध्यान रखें कि शरीर मल-मूत्रादि से अपवित्र न हो। शरीर शुद्धि ही 'काय-शुद्धि' है।

(८) भावशुद्धि—प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, करुणाभाव सहित, रागद्वेष रहित, भावों की निर्मलता पूर्वक सामायिक करना 'भावशुद्धि' है।

सामायिक की विधि—

अंगों को भूमि से लगाकर नमन करना 'नमस्कार' है। बन्द कमल के समान हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा रूप दायें से बायें (clock

wise) हाथ घुमाना 'आवर्त' है। हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना 'शिरोनति' है।

सामायिक करने वाले व्यक्ति को किसी निर्जन/एकान्त स्थान में उत्तर अथवा पूर्व दिशा में मुंह करके खड़े होकर/बैठकर मन, वचन, काय इत्यादि की शुद्धिपूर्वक, समस्त परिग्रह को उतने काल के लिए त्याग कर तथा शरीर से भी ममत्व हटाकर सामायिक प्रारम्भ करनी चाहिये। गरदन और कमर को सीधा रखें क्योंकि रीढ़ की हड्डी के साथ एकाग्रता का भारी सम्बन्ध है। अपने नेत्र और कानों को भीतर की ओर उन्मुख करें तथा नेत्रों को नाक के आगे भाग पर टिका दें। श्वास की गति कम करें, इससे आपकी चंचलता दूर हो जायेगी तथा एकाग्रता में सहायता मिलेगी। अब बैठकर/खड़े होकर प्रथम ही नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़कर पृथ्वी पर सिर लगाकर नमस्कार करना चाहिए तथा सामायिक के काल को प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि 'मैं अमुक समय तक सामायिक करूंगा'। पुनः खड़े होकर/बैठकर नौ बार णमोकार मंत्र, चत्तारि मंगल पाठ तथा सामायिक दंडक इत्यादि पाठ पढ़कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिए। यह क्रिया अन्य तीनों दिशाओं में भी करनी चाहिये। इसके पश्चात् शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोग रूप सामायिक करनी चाहिये। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावरूप चार भावनाओं अथवा धर्मध्यान के भेद आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाकविचय और संस्थानविचय का चिन्तन करना चाहिये। पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत रूप ध्यान करना थोड़ा कठिन है, परन्तु इससे एकाग्रता और ध्यान का अच्छा अभ्यास हो जाता है।

जब सामायिक समाप्त हो जाये तब अन्त में भी प्रारम्भ की तरह प्रत्येक दिशा में नौ बार णमोकार मंत्र का जाप, तीन-तीन आवर्त तथा एक-एक शिरोनति करना चाहिये। यह सामायिक करने की स्थूल विधि है। विशेष विधि तथा दंडक इत्यादि पाठ के लिये कोई सामायिक की पुस्तक देखनी चाहिये।

सामायिक काल में श्रावक के भी महाव्रत हैं—

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य ॥
॥ ४-११४-१५० ॥

अन्वयार्थ—(**एषाम्**) इस (**सामायिकश्रितानां**) सामायिक दशा को प्राप्त श्रावकों को (**चारित्रमोहस्य**) चारित्रमोह का (**उदये अपि**) उदय होने पर भी (**समस्तसावद्ययोगपरिहारात्**) समस्त पाप के योग का त्याग होने से (**महाव्रतं**) महाव्रत (**भवति**) होता है ।

अर्थ—इस सामायिक दशा को प्राप्त श्रावकों को चारित्रमोह का उदय होने पर भी, समस्त पाप के योग के त्याग से महाव्रत होता है ।

विशेषार्थ—सामायिक काल में हिंसादि पाँचों पापों का तथा अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का सर्वथा त्याग होने से श्रावक भी मुनि समान होता है । दोनों के परिणामों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता । अन्तर केवल इतना है कि श्रावक वस्त्रसहित है तथा उसके प्रत्याख्यानावरणी चारित्रमोहनीय का उदय है । मुनिराज दिगम्बर हैं तथा उनके प्रत्याख्यानावरणी चारित्रमोहनीय का अभाव है । सामायिक काल में श्रावक को भी उपचार से महाव्रती माना है ।

दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास का स्वरूप—

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥
॥ ४-११५-१५१ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रतिदिनम्**) प्रतिदिन (**आरोपितं**) अंगीकार किये हुये (**सामायिकसंस्कारं**) सामायिक रूप संस्कार को (**स्थिरीकर्तुम्**) स्थिर करने के लिये (**द्वयोः**) दोनों (**पक्षार्द्धयोः**) पक्षों के अर्धभाग में

अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन (**अवश्यमपि**) अवश्य ही (**उपवासः**) उपवास (**कर्त्तव्यः**) करना चाहिये।

अर्थ—प्रतिदिन अंगीकार किये हुये सामायिक रूप संस्कार को स्थिर करने के लिए, दोनों पक्षों के अर्धभाग में अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन अवश्य ही उपवास करना चाहिये।

विशेषार्थ—सामायिक करने की भावना को और भी दृढ़/पुष्ट करने के लिए उपवास अवश्य करना चाहिये। यह उपवास महीने के प्रत्येक पर्व अर्थात् अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन किया जाता है इसलिए 'प्रोषधोपवास' कहलाता है। 'प्रोषध' का अर्थ है पर्व। कहीं-कहीं प्रोषध का अर्थ एकाशन भी लिया गया है। 'उपवास' का अर्थ है समीप रहना अथवा स्वेच्छा से व्रत विधान की भावना से चारों प्रकार के (अन्न, पान, खाद्य, लेह्य) आहार का त्याग करना। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर अपने शुद्धात्म स्वरूप में लीन होना उपवास है। अथवा विषय-कषायों से चित्त हटाकर समस्त पापों से छूटकर धर्म (निजस्वभाव) में वास करना प्रोषधोपवास है। उपवास के कारण से आत्मपरिणामों में विशुद्धि उत्पन्न होती है, निर्मलता आती है जिससे सामायिक व्रत में दृढ़ता तथा रुचि बढ़ती है। अतः यथाशक्ति प्रोषधोपवास करना चाहिये।

प्रोषधोपवास की विधि--

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ॥

॥ ४-११६-१५२ ॥

अन्वयार्थ—(**मुक्तसमस्तारम्भः**) समस्त आरम्भ से मुक्त होकर (**देहादौ**) शरीर आदि में (**ममत्वम्**) ममत्वबुद्धि का (**अपहाय**) त्याग करके (**प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे**) पर्व के पहले दिन—उपवास से पहले दिन मध्याह्न काल में (**उपवासं**) उपवास को (**गृह्णीयात्**) अंगीकार करना चाहिये।

अर्थ—समस्त आरम्भ से मुक्त होकर, शरीर आदि में ममत्व-बुद्धि का त्याग करके, पर्व के पहले दिन—उपवास से पहले दिन मध्याह्नकाल में उपवास करना चाहिये।

विशेषार्थ—जिस दिन उपवास करना है, उससे एक दिन पहले अर्थात् धारणा के दिन दोपहर के बारह बजे समस्त आरम्भ छोड़कर परिणामों की विशुद्धतापूर्वक मन से विषय-कषायों को हटाकर उक्त चारों प्रकार के आहार का स्वेच्छा से त्याग करके, शरीर से ममत्व-भाव त्यागकर उपवास ग्रहण करना चाहिए। जैसे अष्टमी को उपवास करना है तो सप्तमी के दिन उपर्युक्त विधिपूर्वक उपवास ग्रहण करे तथा उस दिन एकाशन—एक समय ही आहार करना चाहिये। विषय-कषाय के त्याग बिना उपवास नहीं बनता, वह तो आहार का उल्लंघन मात्र है।

उपवास के दिन का कर्त्तव्य—

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्॥
॥ ४-११७-१५३ ॥

अन्वयार्थ—पश्चात् (**विविक्तवसतिं**) निर्जन—एकान्त वसतिका में (**श्रित्वा**) जाकर (**समस्तसावद्ययोगम्**) सम्पूर्ण सावद्य योग का (**अपनीय**) त्याग करके (**सर्वेन्द्रियार्थविरतः**) सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर (**कायमनोवचनगुप्तिभिः**) मनगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति सहित (**तिष्ठेत्**) स्थिर होवे।

अर्थ—पश्चात् निर्जन—एकान्त वसतिका में जाकर सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग करके, सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सहित स्थिर होवे।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक में बताई गई विधि के अनुसार उपवास ग्रहण करने के पश्चात् एकान्त—निर्जन स्थान में अथवा मन्दिर-

चैत्यालय में जाकर समस्त पापों का संकल्पपूर्वक त्याग करके तथा मन और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर अपना सारा समय मन-वचन-काय की गुप्तिपूर्वक धर्मध्यान में लगाना चाहिये। मन में केवल धार्मिक विषयों का चिन्तन करे, वचन से धार्मिक बातें ही बोले तथा काय से भी धर्मरूप चेष्टा करे। इस प्रकार दिन को धर्म साधना में व्यतीत करना चाहिए।

उसके बाद क्या करना चाहिये—

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः॥
॥ ४-११८-१५४ ॥

अन्वयार्थ—(**वासरम्**) दिन (**धर्मध्यानासक्तः**) धर्मध्यान में लीन होकर (**अतिवाह्य**) व्यतीत करे (**विहितसान्ध्यविधिम्**) सन्ध्याकाल की सामायिक आदि क्रिया करके (**स्वाध्यायजितनिद्रः**) स्वाध्याय से निद्रा को जीतकर (**शुचिसंस्तरे**) पवित्र बिस्तर/चटाई पर (**त्रियामां**) रात (**गमयेत्**) पूर्ण करे।

अर्थ—दिन धर्मध्यान में लीन होकर व्यतीत करे और सन्ध्याकाल की सामायिक आदि क्रिया करके स्वाध्याय से निद्रा को जीतकर पवित्र बिस्तर/चटाई पर रात पूर्ण करे।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक में कही हुई विधि के अनुसार धर्मध्यान में दिन व्यतीत करके रुचिपूर्वक सायंकालीन सामायिक करनी चाहिये। तत्पश्चात् पवित्र बिस्तर पर अथवा चटाई पर बैठकर स्वाध्याय करना चाहिये तथा यथाशक्ति निद्रा को जीतना चाहिये। ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन पूर्वक समस्त रात्रि बिना शयन बिताये तो अति उत्तम है, और यदि निद्रा सताये तो कम-से-कम सोना चाहिये।

तत्पश्चात् क्या करना चाहिये—

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥

॥ ४-११९-१५५ ॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (**प्रातः**) प्रातः (**प्रोत्थाय**) उठकर (**तात्कालिकं**) उस समय की (**क्रियाकल्पम्**) सामायिक आदि क्रियाएँ (**कृत्वा**) करके (**प्रासुकैः**) प्रासुक—जीवरहित (**द्रव्यैः**) द्रव्यों से (**यथोक्तं**) शास्त्रों में कही विधि अनुसार (**जिनपूजां**) जिनेन्द्र देव की पूजा (**निर्वर्तयेत्**) करे।

अर्थ—उसके बाद प्रातः उठकर उस समय की सामायिक आदि क्रियाएँ करके प्रासुक—जीवरहित द्रव्यों से शास्त्रों में कही विधि अनुसार जिनेन्द्र देव की पूजा करे।

विशेषार्थ—पुनः प्रातः चार बजे ब्राह्ममुहूर्त में उठकर उत्साहपूर्वक प्रातःकालीन सामायिक करनी चाहिये। उसके बाद शौच-स्नान इत्यादि से निबटकर भगवान् की पूजा करनी चाहिये। यद्यपि प्रोषधोपवास में समस्त आरंभ क्रिया का त्याग है, परन्तु भगवान् की पूजा इत्यादि के लिये स्नान करना तथा पूजन सामग्री तैयार करना वर्जित नहीं है। पूजा का अर्थ है सम्मान अथवा आराधना। दिन निकलने के बाद प्रासुक द्रव्यों से शास्त्रों में कही गई विधि अनुसार जिनेन्द्र भगवान् की भक्तिभाव से पूजा करनी चाहिये। भगवान् की पूजा में अनेक प्रकार के सचित्त पदार्थ अथवा जिनमें अनन्तकाय जीवों का घात हो—ऐसी वस्तुयें नहीं चढ़ानी चाहिये।

उसके पश्चात् और क्या करना चाहिये—

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥

॥ ४-१२०-१५६ ॥

अन्वयार्थ—(**ततः**) उसके बाद (**उक्तेन**) पूर्वकथित (**विधिना**) विधि के अनुसार (**दिवसं**) उपवास का दिन (**च**) और (**द्वितीय-रात्रि**) दूसरी रात को (**नीत्वा**) व्यतीत करके (**च**) और (**तृतीय-दिवसस्य**) तीसरे दिन का (**अर्धं**) आधा भाग भी (**प्रयत्नात्**) अत्यन्त यत्नपूर्वक (**अतिवाहयेत्**) व्यतीत करे।

अर्थ—उसके बाद पूर्वकथित विधि के अनुसार उपवास का दिन और दूसरी रात को व्यतीत करके, और तीसरे दिन का आधा भाग भी अत्यन्त यत्नपूर्वक व्यतीत करे।

विशेषार्थ—तत्पश्चात् श्लोक संख्या १५३-५४ में कथित विधि के अनुसार उपवास का दिन तथा दूसरी रात्रि भी स्वाध्याय तथा धर्मध्यान में व्यतीत करे। तीसरा आधा दिन भी (बारह बजे तक) प्रातःकालीन सामायिक, भगवान् की पूजा तथा स्वाध्याय में व्यतीत करे। इस प्रकार सोलह पहर (४८ घंटे) धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करके पश्चात् आहार ग्रहण करना चाहिए।

उपवास का फल—

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति॥
॥ ४-१२१-१५७ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो जीव (**इति**) इस प्रकार (**परिमुक्तसकल-सावद्यः**) समस्त पाप क्रियाओं से मुक्त होकर (**षोडशयामान्**) सोलह पहर (**गमयति**) बिताता है (**तस्य**) उसके (**तदानीं**) उस समय (**नियतं**) नियम से (**पूर्णम्**) सम्पूर्ण (**अहिंसाव्रतं**) अहिंसाव्रत (**भवति**) होता है।

अर्थ—जो जीव इस प्रकार समस्त पाप क्रियाओं से मुक्त होकर सोलह पहर बिताता है, उसके उस समय नियम से सम्पूर्ण अहिंसा-व्रत होता है।

विशेषार्थ—जो भव्यजीव पूर्वोक्त उपवास की विधि अनुसार समस्त आरम्भ, परिग्रह तथा पापों का त्याग करके सोलह पहर श्रद्धा भक्तिपूर्वक धर्मध्यान में व्यतीत करता है, उसको उतने काल तक पूर्ण अहिंसाव्रत का नियम से पालन होता है। उत्कृष्ट उपवास सोलह पहर (४८ घंटे), मध्यम बारह पहर (३६ घंटे) तथा जघन्य आठ पहर (२४ घंटे) का होता है। अपनी शक्ति अनुसार उपवास करना चाहिए।

उपवास में अहिंसा की पुष्टि—

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः॥
॥४-१२२-१५८॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय ही (**अमीषाम्**) इस देशव्रती श्रावक को (**भोगोपभोगहेतोः**) भोग-उपभोग के कारण (**स्थावरहिंसा**) स्थावर जीवों की हिंसा (**भवेत्**) होती है, परन्तु (**भोगोपभोग**) भोग-उपभोग के (**विरहात्**) त्याग से (**हिंसायाः**) हिंसा (**लेशः अपि**) बिलकुल भी (**न भवति**) नहीं होती।

अर्थ—निश्चय ही इस देशव्रती श्रावक को भोग-उपभोग के कारण स्थावर जीवों की हिंसा होती है, परन्तु भोग-उपभोग के त्याग से हिंसा बिलकुल भी नहीं होती।

विशेषार्थ—देशव्रती श्रावक/गृहस्थ त्रस जीवों की हिंसा का तो पूर्ण रूप से त्यागी होता है, परन्तु पंचेन्द्रियों के भोगोपभोग के कारण स्थावर जीवों की हिंसा होती है। उपवास के समय समस्त आरम्भ, परिग्रह, पाँचों पापों का तथा भोगोपभोग का सम्पूर्ण त्याग होने से त्रस तथा स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की लेशमात्र भी हिंसा नहीं होती, अतः अहिंसाव्रत का पालन हो जाता है।

उपवास में अहिंसा महाव्रत की तरह शेष चार महाव्रत भी पलते हैं—

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहितः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्छस्य ।।
।। ४-१२३-१५९ ।।

अन्वयार्थ—उपवासधारी पुरुष के **(वाग्गुप्तेः)** वचनगुप्ति होने से **(अनृत)** असत्य वचन **(न अस्ति)** नहीं होता है, **(समस्तादान-विरहितः)** समस्त बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण के त्याग से **(स्तेयम्)** चोरी **(न)** नहीं है **(मैथुनमुचः)** मैथुन त्यागी को **(अब्रह्म)** अब्रह्मचर्य **(न)** नहीं है और **(अङ्गे)** शरीर में **(अमूर्छस्य)** ममत्व भाव न होने से **(सङ्गः)** परिग्रह **(अपि न)** भी नहीं है।

अर्थ—उपवासधारी पुरुष के वचनगुप्ति होने से असत्य वचन नहीं होता है, समस्त बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण के त्याग से चोरी नहीं है, मैथुनत्यागी को अब्रह्मचर्य नहीं है और शरीर में ममत्वभाव न होने से परिग्रह भी नहीं है।

विशेषार्थ—उपवास के दिन वचनगुप्ति के कारण झूठ बोलने का त्याग होने से सत्यमहाव्रत का पालन, बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण का त्याग होने से अचौर्यमहाव्रत का पालन, सम्पूर्ण मैथुन के त्याग होने से ब्रह्मचर्यमहाव्रत का पालन तथा शरीर में ममत्वभाव न होने से परिग्रहत्याग महाव्रत का पालन भी होता है। इस प्रकार उपवास के दिन चारों महाव्रतों का भी पालन हो जाता है।

श्रावक को उपर्युक्त महाव्रत उपचार/व्यवहार से हैं—

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ।।
।। ४-१२४-१६० ।।

अन्वयार्थ—(**इत्थम्**) इस प्रकार (**अशेषितहिंसा:**) सम्पूर्ण हिंसा रहित (**सः**) वह प्रोषधोपवासी पुरुष (**उपचारात्**) उपचार से—व्यवहारनय से (**महाव्रतित्वम्**) महाव्रतपने को (**प्रयाति**) पाता है (**तु**) परन्तु (**चरित्रमोहे**) चारित्रमोह के (**उदयति**) उदय होने के कारण (**संयमस्थानम्**) महाव्रत संयमस्थान (**लभते न**) प्राप्त नहीं करता।

अर्थ—इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसा रहित, वह प्रोषधोपवासी पुरुष उपचार से—व्यवहारनय से महाव्रतपने को पाता है, परन्तु चारित्र-मोह के उदय होने के कारण महाव्रत संयमस्थान को प्राप्त नहीं करता।

विशेषार्थ—पिछले दो श्लोकों में उपवास के दिन सम्पूर्ण पापों तथा परिग्रहादि का त्याग होने से श्रावक/गृहस्थ को महाव्रती कहा गया है। वास्तव में वह महाव्रती नहीं है। वह उपचार—व्यवहार से महाव्रती कहलाता है। प्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों का अभाव होने से महाव्रत रूप संयमस्थान दिगम्बर मुनिराज को ही होता है। गृहस्थ के इन कषायों का सद्भाव होने से वह एक-देशव्रती है, महाव्रती नहीं है। इसलिये गृहस्थ/श्रावक को महाव्रती कहना औपचारिक कथन है। श्रावकों/गृहस्थों को पाँचो पापों के त्याग तथा इन्द्रिय विषय दमन के हेतु प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिए। मान-बड़ाई के वशीभूत होकर किया गया उपवास निष्प्रयोजन है।

तीसरे भोगोपभोग शिक्षाव्रत का स्वरूप—

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥

॥ ४-१२५-१६१ ॥

अन्वयार्थ—(**विरताविरतस्य**) देशव्रती श्रावक को (**भोगोप-भोगमूला**) भोग और उपभोग के कारण होने वाली (**हिंसा**) हिंसा

होती है (अन्यतः न) अन्य प्रकार से नहीं, इसलिए (तौ) वे दोनों— भोग और उपभोग (अपि) भी (वस्तुतत्त्वं) वस्तु स्वरूप को और (स्वशक्तिमपि) अपनी शक्ति को भी (अधिगम्य) जानकर (त्याज्यौ) त्यागने योग्य हैं।

अर्थ – देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग के कारण से होने वाली हिंसा होती है, अन्य प्रकार से नहीं, इसलिये वे दोनों—भोग और उपभोग भी, वस्तुस्वरूप को और अपनी शक्ति को भी जानकर अर्थात् शक्ति अनुसार, त्यागने योग्य हैं।

विशेषार्थ—जो वस्तु एक बार ही भोगी जाये उसे 'भोग' कहते हैं, जैसे—भोजन, पान, गन्ध, माला इत्यादि। जो वस्तु बार-बार भोगने में आती है उसे 'उपभोग' कहते हैं, जैसे—जेवर, वस्त्र, वाहन, आसन इत्यादि। श्रावक/गृहस्थ को इन्द्रिय-भोगोपभोग पदार्थ सम्बन्धी स्थावर हिंसा अवश्य होती है। अन्य प्रकार कोई हिंसा नहीं होती। जब किसी को ऐसा अनुभव/श्रद्धान हो जाता है कि भोगों की तृष्णा दुःख और आकुलता उत्पन्न करने वाली है, तब वह भोगों के त्याग की ओर बढ़ता है। इसलिए वस्तुस्वरूप को भली प्रकार जानकर अर्थात् वस्तु के भोग में कितना दोष है, वह भक्ष्य है या नहीं—इस प्रकार विवेकपूर्ण विचार करके अपनी शक्ति अनुसार भोगों का त्याग करना चाहिए। जो भोगने योग्य पदार्थ हैं, उनका भी परिमाण (संख्या निर्धारित) करके शेष को त्याग देना चाहिए।

हिंसा के कारणों का भी त्याग करना चाहिये—

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्॥

॥ ४-१२६-१६२ ॥

अन्वयार्थ—क्योंकि (एकम्) एक साधारण शरीर को—कन्दमूल आदि को (अपि) भी (प्रजिघांसुः) घात करने की इच्छा रखने वाला पुरुष (अनन्तानि) अनन्त जीवों को (निहन्ति) मारता है

(अतः) इसलिये (ततः) उन (अशेषाणां) सभी (अनन्तकायानाम्) अनन्त काय वाले पदार्थों का (परिहरणं) पूर्ण त्याग (अवश्यम्) अवश्य (करणीयम्) करना चाहिए।

अर्थ—क्योंकि एक साधारण शरीर को—कन्दमूल आदि को भी घात करने की इच्छा रखने वाला पुरुष अनन्तजीवों को मारता है, इसलिए उन सभी अनन्तकाय वाले पदार्थों का पूर्ण त्याग अवश्य करना चाहिये।

विशेषार्थ—हिंसा के कारणों का त्याग करने से ही हिंसा का त्याग संभव है। भोगोपभोग का परिमाण करने वाले व्यक्ति को कन्दमूल इत्यादि साधारण अनन्तकाय वनस्पति का सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके खाने से उनके (कन्दमूल) आश्रय से रहने वाले अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है।

पांच स्थावरों में से पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, और अग्निकाय जीवों में तो निगोदजीव नहीं रहते, केवल एक वनस्पतिकाय में ही रहते हैं। वनस्पति 'साधारण' और 'प्रत्येक' के भेद से दो प्रकार की है। जिस शरीर का एक ही स्वामी हो उसे प्रत्येक वनस्पति तथा जिसके शरीर के अनन्त स्वामी हों उसे साधारण वनस्पति कहते हैं। प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं—एक 'सप्रतिष्ठित' तथा दूसरा 'अप्रतिष्ठित'। जो निगोद जीव सहित है अर्थात् जिसका मूल स्वामी तो एक है परन्तु उसके आश्रय से अनन्त निगोद जीव रहते हों, उन्हें सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं तथा जिसका मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रय से अनन्त निगोदजीव न रहते हों उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

'साधारण वनस्पति'—जिसके तोड़ने पर समान भंग हों, जिसके पत्तों में रेखा और नसाजाल न निकले हों, जिसकी मूल, कन्द, छाल, पत्ते, छोटी डाली, फल तथा बीज में तोड़ते समय समान भंग हो जायें तब तक वह साधारण वनस्पति है। जब उनमें समान भंग न हों तब वही वनस्पति प्रत्येक वनस्पति हो जाती है। साधारण

वनस्पति के काटने-तोड़ने से, उसके स्वामी अनन्त जीवों का घात होता है। सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के शरीर का स्वामी तो एक ही है, परन्तु उसके आश्रय से अनन्त जीव रहते हैं, वे उसके स्वामी नहीं हैं, इसलिये उस एक शरीर के मरने से उन जीवों का घात नहीं होता। इसलिये गृहस्थ/श्रावक को साधारण वनस्पति आलू, अदरख इत्यादि का तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा यथाशक्ति प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग करना चाहिए। जब हम आलू, अदरक, गाजर, मूली, जमींकन्द इत्यादि खाते हैं तब जिह्वा के थोड़े से स्वाद के लिए अनन्तानन्त जीवों का घात करते हैं। अतः इनकी हिंसा से बचने के लिये ऐसी तथा यथा-शक्ति अन्य वनस्पति का भी शीघ्र त्याग कर देना चाहिये।

नवनीत (मक्खन) त्याग करने योग्य है—

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वाऽपि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्॥
॥ ४-१२७-१६३ ॥

अन्वयार्थ—(**च**) तथा (**प्रभूतजीवानाम्**) बहुत जीवों के (**योनिस्थानं**) उत्पन्न होने का स्थान (**नवनीतं**) मक्खन (**त्याज्यं**) त्याग करने योग्य है (**वा**) अथवा (**पिण्डशुद्धौ**) आहार की शुद्धि में (**यत् किञ्चित्**) जो कुछ भी (**विरुद्धम्**) विरुद्ध (**अभिधीयते**) कहा गया है वह (**अपि**) भी त्यागने योग्य है।

अर्थ—तथा बहुत जीवों के उत्पन्न होने का स्थान होने से मक्खन त्याग करने योग्य है अथवा आहार की शुद्धि में जो कुछ भी विरुद्ध कहा गया है, वह भी त्यागने योग्य है।

विशेषार्थ—नवनीत (मक्खन) में अड़तालीस मिनट के पश्चात् त्रस जीवों की उत्पत्ति होने लग जाती है। मक्खन खाने से उन जीवों का घात होता है, अतः इसका भी त्याग करना चाहिए। ताजे निकाले

हुये मक्खन का अड़तालीस मिनट के अन्दर-अन्दर घी बना लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आचारशास्त्र में कथित अन्य अभक्ष्य पदार्थों का भी त्याग करना चाहिये। चमड़े में रखा हुआ घी, तेल, हींग, पानी इत्यादि ग्रहण नहीं करना चाहिये। अड़तालीस मिनट से ज्यादा रखा हुआ कच्चा दूध, एक दिन से ज्यादा की दही, बाजार का आटा, अनजाना फल, सड़ा हुआ या घुना हुआ अनाज तथा बहुत बीज वाली सब्जी-फल नहीं खाने चाहिये। पानी को मोटे कपड़े के छन्ने में छानकर पीना तथा अन्य कामों में प्रयोग करना चाहिये। कच्चे पानी की अड़तालीस मिनट तथा उबाले हुये पानी की मर्यादा चौबीस घण्टे है। शीतकाल में आटे की मर्यादा सात दिन, गरमी में पाँच दिन तथा वर्षाकाल में तीन दिन की है। इस प्रकार व्रती श्रावक को अपनी भोग-उपभोग की वस्तुओं का सोच-समझकर चुनाव करना चाहिये।

खाने योग्य पदार्थों को भी शक्ति के अनुसार त्यागना चाहिये—

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया॥
॥ ४-१२८-१६४ ॥

अन्वयार्थ—(धीमता) बुद्धिमान् पुरुष (निजशक्तिम्) अपनी शक्ति (अपेक्ष्य) देखकर (अविरुद्धाः) अविरुद्ध (भोगाः) भोग (अपि) भी (त्याज्याः) त्याग दे, यदि (अत्याज्येषु) उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें (अपि) भी (एकदिवानिशोप-भोग्यतया) एक दिवस-रात की उपभोग्यता से (सीमा) मर्यादा (कार्या) करनी चाहिए।

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपनी शक्ति देखकर अविरुद्ध (दोष रहित) भोग भी त्याग दे। यदि उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें भी एक दिवस-रात की उपभोग्यता से मर्यादा करनी चाहिये।

विशेषार्थ—श्रावक को अपने पद के अनुसार समस्त अभक्ष्य पदार्थों का त्याग तो करना ही चाहिये। इसके अलावा जो शुद्ध भक्ष्य पदार्थ हैं, उनका भी शक्ति के अनुसार, इन्द्रिय-विषयों की लालसा/राग को कृश करने के लिये त्याग करना चाहिये। यदि सर्वथा—जीवन पर्यन्त त्याग करने में असमर्थ हो तो निश्चित काल का 'नियम' करके उनका भी त्याग अवश्य करना चाहिये। समय की मर्यादा रख-कर जो त्याग होता है उसे 'नियम' कहते हैं। अर्थात् ऐसा संकल्प करना चाहिये कि "अमुक वस्तु का अथवा विषय का मैं एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष अथवा एक मास के लिये त्याग करता हूँ।" इस प्रकार भोगोपभोग्य पदार्थों का नियम रूप त्याग किया जाता है। बुद्धिमान् पुरुष भोगों के प्रति रुचि को आहिस्ते-आहिस्ते कम करके एकदम समाप्त कर देते हैं।

पूर्व मर्यादा में भी मर्यादा कम करनी चाहिये—

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या॥
॥ ४-१२६-१६५ ॥

अन्वयार्थ—(**पूर्वकृतायां**) पहले की हुई (**सीमनि**) मर्यादा में (**पुनः**) फिर से (**अपि**) भी (**तात्कालिकीं**) उस वर्तमान समय की (**निजां**) अपनी (**शक्तिम्**) शक्ति को (**समीक्ष्य**) विचार कर (**प्रतिदिवसं**) प्रत्येक दिन (**अन्तरसीमा**) मर्यादा में भी थोड़ी मर्यादा (**कर्त्तव्या भवति**) करनी चाहिये।

अर्थ—पहले की हुई मर्यादा में फिर भी उस वर्तमान समय की अपनी शक्ति को विचार कर, प्रत्येक दिन मर्यादा में भी थोड़ी मर्यादा करनी चाहिये।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक में बताई गई विधि के अनुसार जो एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि की मर्यादा की गई थी, उस मर्यादा को अपनी वर्तमान शक्ति के अनुसार और भी संकुचित करके उसमें

भी भोगोपभोग की वस्तुओं/विषयों को घटाना चाहिये। अर्थात् पूर्व मर्यादा में भी भोग्य वस्तुओं—पान, फूल, सेंट, वस्त्र, अलंकार, संगीत, कामक्रीड़ा इत्यादि का प्रतिदिन त्याग करना चाहिये। इस प्रकार अपने भोगोपभोग की वस्तुओं तथा मर्यादा को जहाँ तक हो सके कम करना चाहिये। यही कल्याण और शान्ति का मार्ग है।

भोगों के त्याग से विशेष अहिंसाव्रत होता है—

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतराम् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्॥
॥ ४-१३०-१६६ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो गृहस्थ (**इति**) इस प्रकार (**परिमितभोगैः**) मर्यादित भोगों से (**सन्तुष्टः**) सन्तुष्ट होकर (**बहुतरान्**) बहुत से (**भोगान्**) भोगों को (**त्यजति**) त्याग देता है (**तस्य**) उसके (**बहुतरहिंसाविरहात्**) बहुत हिंसा के त्याग से (**विशिष्टा अहिंसा स्यात्**) विशेष अहिंसाव्रत होता है।

अर्थ—जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादित भोगों से सन्तुष्ट होकर बहुत से भोगों को त्याग देता है, उसके बहुत हिंसा के त्याग से विशेष अहिंसाव्रत होता है।

विशेषार्थ—जो गृहस्थ/श्रावक पूर्वोक्त प्रकार से भोगों से सन्तुष्ट (तृप्त) होकर, उनका ज्यादा से ज्यादा त्याग करता है, वह अहिंसाव्रत का विशेष रूप से पालन करता है। भोगों के प्रति आसक्ति/रागभाव का अभाव होने से भावहिंसा नहीं होती तथा भोगों के निमित्त से होने वाली जीवों के घात रूप हिंसा न होने से द्रव्य हिंसा भी नहीं होती। इस तरह भोगों के त्याग से अहिंसाव्रत पुष्ट होता है।

चौथे वैयावृत्य (अतिथिसंविभाग) शिक्षाव्रत का स्वरूप—

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥
॥ ४-१३१-१६७ ॥

अन्वयार्थ—(**दातृगुणवता**) दाता के गुणों से युक्त गृहस्थ को (**जातरूपाय अतिथये**) दिगम्बर मुनि के लिये (**स्वपरानुग्रहहेतोः**) अपने और पर के उपकार के लिये (**द्रव्यविशेषस्य**) विशेष द्रव्य का—देने योग्य वस्तु का (**भागः**) भाग (**विधिना**) विधिपूर्वक (**अवश्यम्**) अवश्य ही (**कर्त्तव्यः**) करना चाहिये ।

अर्थ—दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ को दिगम्बर मुनि के लिये अपने और पर के उपकार के लिये, विशेष द्रव्य—देने योग्य वस्तु का भाग विधिपूर्वक अवश्य ही करना चाहिये ।

विशेषार्थ—आपत्ति अथवा दुःख से छुटकारा पाने के लिये जो उपाय किया जाये उसे 'वैयावृत्य' कहते हैं । उसमें चारों दान तथा सेवा-सुश्रूषा इत्यादि सबका ग्रहण होता है । अपने तथा दूसरे के उपकार के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना 'दान' है । दातार को उत्तमपात्र को दान देने से विशेष पुण्य का लाभ होता है तथा पात्र की संयमादि की तथा रत्नत्रय की पुष्टि होती है । अतः दातार के सप्त गुणों से युक्त श्रावक को प्रतिदिन अपने तथा पर के उपकार हेतु दिगम्बर मुनि को विधि एवं नवधा भक्ति पूर्वक, देने योग्य वस्तुओं का दान अवश्य देना चाहिये । श्रावक को अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धन में से शक्ति के अनुसार दान के निमित्त भाग अवश्य निकालना चाहिये । द्वार पर आये हुये अतिथि को आहारादिक का दान करके पश्चात् स्वयं भोजन करे—ऐसा सद्गृहस्थों का नियम है, उसे 'अतिथिसंविभाग' कहते हैं ।

नवधा भक्ति के नाम—

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥
॥ ४-१३२-१६८ ॥

अन्वयार्थ—(**संग्रहम्**) पड़गाहन (**उच्चस्थानं**) ऊँचा आसन देना (**पादोदकम्**) चरण धोना, (**अर्चनं**) पूजा करना (**च**) और (**प्रणामं**) नमस्कार करना (**वाक्कायमनःशुद्धिः**) मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि पूर्वक (**च**) और (**एषणशुद्धिः**) आहार शुद्धि—इस प्रकार आचार्यों ने (**विधिम्**) नवधा भक्ति रूप विधि (**आहुः**) कही है ।

अर्थ—पड़गाहन, ऊँचा आसन देना, चरण धोना, पूजा करना और नमस्कार करना, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धिपूर्वक और आहार शुद्धि—इस प्रकार आचार्यों ने नवधाभक्ति रूप विधि कही है ।

विशेषार्थ—इस श्लोक में आहार दान की विधि का वर्णन है । उत्तमपात्र अर्थात् दिगम्बर मुनिराज को नवधाभक्तिपूर्वक आहार देना चाहिये । नौ प्रकार की भक्ति का विवरण—(१) 'संग्रहम्'—पड़गाहन करना अर्थात् मुनिराज को बड़े आदरपूर्वक आहार के लिये बुलाना तथा तीन प्रदक्षिणा देकर घर में प्रवेश कराना, (२) 'उच्च-स्थानं'—घर में लेजाकर उन्हें ऊँचे आसन पर बैठाना, (३) 'पादोद-कम्'—प्रासुक जल से चरण धोना, (४) 'अर्चनं'—अर्घ चढ़ाना अथवा अष्टद्रव्य से पूजा करना, (५) 'प्रणामं'—नम्रीभूत होकर नमस्कार करना, (६) 'मनशुद्धि'—आहार देने में विनय सेवायुक्त परिणाम रखना, (७) 'वाक्शुद्धि'—विनय-भक्तियुक्त वचन बोलना, (८) 'कायशुद्धि'—शरीर को स्नान आदि द्वारा स्वच्छ करना तथा धुले हुये शुद्ध वस्त्र पहनना तथा (९) 'एषणशुद्धि'—आहार शुद्धि—आहार की सभी वस्तुयें निर्दोष—शुद्ध रखना । आहार प्रारंभ कराने से पहले 'मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहारशुद्धि' बोलना

चाहिये। यह नवधाभक्ति केवल दिगम्बर मुनिराज के लिये ही है। अन्य पात्रों के लिये उनके पद के अनुसार विधान अपनाना चाहिये।

दातार के सात गुण—

> ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम् ।
> अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥
>
> ॥ ४-१३३-१६६ ॥

अन्वयार्थ—(**ऐहिकफलानपेक्षा**) इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न करना, (**क्षान्तिः**) क्षमाभाव धारण करना, (**निष्कपटता**) कपट रहित होना (**अनसूयत्वम्**) ईर्ष्या रहित होना (**अविषादित्वमुदित्वे**) खेद न करना, आनन्दविभोर होना और (**निरहङ्कारित्वम्**) अहंकार न करना (**इति**) इस प्रकार यह सात (**हि**) निश्चय ही (**दातृगुणाः**) दातार के गुण हैं।

अर्थ—इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न करना, क्षमाभाव धारण करना, कपटरहित होना, ईर्ष्यारहित होना, खेद न करना, आनन्द विभोर होना और अहंकार न करना – इस प्रकार यह सात निश्चय ही दातार के गुण हैं।

विशेषार्थ—यहाँ दातार अथवा दान देने वाले के सात गुणों का वर्णन है। ये गुण प्रत्येक दातार में अवश्य होने चाहियें अन्यथा दिया हुआ दान विशेष फल प्रदान नहीं करता। दातार के सात गुण इस प्रकार हैं—(१) 'ऐहिकफलानपेक्षा'—दान देकर इस लोक सम्बन्धी यशःकीर्ति अथवा धन-वैभव आदि सामग्री की इच्छा न करना, (२) 'क्षान्ति'—दान देते समय शान्त परिणाम तथा क्षमाभाव धारण करना, (३) 'निष्कपटता'—कपट/मायाचार न करना—अन्तरंग तथा बाह्य में शुभ परिणाम रखना, (४) 'अनसूयत्वम्'—दूसरे दातार के प्रति ईर्ष्या अथवा दुर्भाव न रखना, (५) 'अविषादित्वम्'—विषाद न करना—खेद-खिन्न न होना। आहार देने के पश्चात् किसी भी कारण से खिन्नता उत्पन्न नहीं होना, (६) 'मुदित्व'—दान देने के

पश्चात् आनन्द विभोर होना तथा (७) 'निरहङ्कारित्वम्'—किसी भी प्रकार का अहंकार न करना कि 'हम बड़े दातार हैं' इत्यादि। इस तरह सात गुणों से युक्त, नवधाभक्ति पूर्वक जो दातार दान देता है वह विशेष पुण्य का फल पाता है।

किन वस्तुओं का दान करना चाहिये—

रागद्वेषासंयममदवुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥
॥ ४-१३४-१७० ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (रागद्वेषासंयममदवुःखभयादिकं) राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि उत्पन्न (न कुरुते) नहीं करता हो और (सुतपः) उत्तम तप तथा (स्वाध्यायवृद्धिकरम्) स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला हो (तत् एव) वही (द्रव्यं) द्रव्य (देयं) देना चाहिये।

अर्थ—जो राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि उत्पन्न न करता हो और उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला है, वही द्रव्य देना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोक में दान देने योग्य द्रव्य का वर्णन है। आहारदान में मुनिराज को दी गई वस्तु कैसी होनी चाहिये?—जिसके सेवन से संयमी पुरुष में राग, द्वेष, असंयम, मद, आकुलता, भय, आलस्य तथा कामादिक विकार उत्पन्न हों—ऐसी वस्तुयें आहार में नहीं देनी चाहिये। उनके तप तथा रत्नत्रय की वृद्धि के लिये और शास्त्र-स्वाध्याय तथा ध्यान आदि की रुचि बढ़ाने में सहायक सात्विक वस्तुओं का आहार देना चाहिये। विशेष सावधानीपूर्वक साधुओं के आहार के लिये शुद्ध—प्रासुक वस्तुओं का चुनाव करना आवश्यक है।

दान के चार भेद हैं—(१) 'आहारदान'—क्षुधा (भूख) निवारण के लिये तथा शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिए त्यागी-व्रती को

सात्त्विक तथा प्रासुक भोजन देना आहारदान है। (२) 'औषधदान'— रोग आदि की पीड़ा/व्याधि दूर करने के लिये दवाई देना औषधदान है। (३) 'ज्ञानदान' अथवा 'उपकरण दान'—साधुओं को स्वाध्याय के लिये ज्ञानवर्द्धक शास्त्र, जीव-रक्षा हेतु पीछी तथा शुद्धि के लिये कमण्डलु आदि देना ज्ञानदान अथवा उपकरण दान है। (४) 'अभय-दान' अथवा 'वसतिका दान'—साधु के रहने के लिये यथायोग्य सुरक्षित स्थान झोंपड़ी, वसतिका अथवा धर्मशाला इत्यादि बनवाना अभय-दान अथवा वसतिका दान है। इस प्रकार आत्मकल्याण के निमित्त त्यागियों को उपर्युक्त दान देना ही वास्तविक दान है।

पात्रों के भेद—

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥
॥ ४-१३५-१७१ ॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षकारणगुणानाम्**) मोक्ष के कारणभूत—सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणों की एकतारूप (**संयोगः**) संयोगवाला (**पात्रं**) पात्र (**अविरतसम्यग्दृष्टिः**) अविरत सम्यग्दृष्टि (**च**) तथा (**विरताविरतः**) देशव्रती (**च**) और (**सकलविरतः**) महाव्रती (**त्रिभेदम्**) तीन भेदरूप (**उक्तं**) कहा गया है।

अर्थ—मोक्ष के कारणभूत अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणों की एकतारूप संयोगवाला पात्र अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती और महाव्रती तीन भेदरूप कहा गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एक-रूपता ही मोक्षमार्ग है। जिस जीव में इनका एकरूपता रूप संयोग पाया जावे अर्थात् जो सम्यदृष्टि जीव है, वह 'पात्र' कहलाता है। उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के हैं। सम्यग्दृष्टि महाव्रती मुनिराज 'उत्तमपात्र' हैं, सम्यग्दृष्टि अणुव्रती

गृहस्थ/श्रावक 'मध्यमपात्र' है तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टि श्रावक 'जघन्यपात्र' है। मिथ्यादर्शन सहित जो जैन आचरण पालता है वह 'कुपात्र' है। मिथ्यादर्शन सहित जो मिथ्या आचरण का पालन करता है वह 'अपात्र' है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि दान की पात्रता क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है? समाधान—यदि निश्चय सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाये तो उत्तम पात्र आदि की पहचान/परीक्षा साधारण व्यक्ति की बुद्धि से बाहर की बात है, इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन से पात्रों की पहचान / परीक्षा करके उनको यथायोग्य आदर-सत्कार पूर्वक आहारदान देना चाहिये। इस प्रकार द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्तमपात्र की गणना में आता है, अतः उसे भी आहार देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त दुःखी जीवों को करुणाभाव से भोजन, औषध, वस्त्र इत्यादि का दान भी देना चाहिये। जो जीव अपनी आजीविका कमाने में समर्थ हैं, व्यसनी, व्यभिचारी हैं, उन्हें दान नहीं देना चाहिये, क्योंकि वे अपात्र हैं।

सम्यग्दृष्टि दातार सुपात्रों को दान देने से स्वर्गों में उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि दातार उत्तमपात्र को दान देने से उत्तमभोग भूमि में, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोग भूमि में तथा जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोग भूमि में उत्पन्न होता है। कुपात्र को दान देने का फल कुभोग भूमि है तथा अपात्र को दान देने से नरकादि गति मिलती हैं।

दान देने से हिंसा का त्याग होता है—

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥
॥ ४-१३६-१७२ ॥

अन्वयार्थ—(**यतः**) क्योंकि (**अत्र दाने**) यहाँ दान में (**हिंसायाः**) हिंसा की (**पर्यायः**) पर्याय (**लोभः**) लोभ कषाय का (**निरस्यते**) त्याग किया जाता है (**तस्मात्**) इसलिए (**अतिथिवितरणं**) अतिथि-दान में (**हिंसाव्युपरमणम्**) हिंसा का त्याग (**एव इष्टम्**) ही इष्ट है।

अर्थ—क्योंकि यहाँ दान में हिंसा की पर्याय लोभ कषाय का त्याग किया जाता है, इसलिये अतिथि दान में हिंसा का त्याग ही इष्ट है।

विशेषार्थ—जो जीव दान देता है वह अहिंसा का पालन करता है। लोभकषाय का त्याग किये बिना किसी भी प्रकार का दान देना संभव नहीं है। अन्तरंग में लोभ कषाय का त्याग होने पर ही बाह्य वस्तु से ममत्व छूटता है और तभी अपनी वस्तु स्वपर-कल्याण के लिए दी जाती है। लोभकषाय भावहिंसा की एक पर्याय है। जो भव्य जीव लोभकषाय का त्याग करके दान देता है, वह अहिंसाव्रत का पालन करता है। अतः दान देने में भी हिंसा का त्याग होता है।

जो श्रावक घर पर आए हुए साधु को आहार नहीं देता वह लोभ-हिंसा ग्रस्त है—

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति।।

।।४-१३६-१७३।।

अन्वयार्थ—(**यः**) जो गृहस्थ (**गृहमागताय**) घर पर आये हुए (**गुणिने**) रत्नत्रय आदि गुणों से युक्त (**मधुकरवृत्त्या**) भ्रमर समान वृत्ति से (**परान्**) दूसरों को (**अपीडयते**) पीड़ा न देने वाले (**अतिथये**) अतिथि—साधु को (**न वितरति**) भोजनादि दान नहीं देता (**सः**) वह (**लोभवान्**) लोभकषाय युक्त (**कथं**) कैसे (**न हि**) नहीं (**भवति**) है ?

अर्थ—जो गृहस्थ घर पर आये हुए रत्नत्रय आदि से युक्त, भ्रमर समान वृत्ति से दूसरों को पीड़ा न देने वाले अतिथि—साधु को

भोजनादि दान नहीं देता, वह लोभकषाय युक्त कैसे नहीं है ? अर्थात् अवश्य लोभकषाय युक्त है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार भ्रमर (भौंरा) किसी भी फूल को पीड़ा पहुँचाए बिना उनकी सुगन्ध लेता है, उसी प्रकार दिगम्बर मुनिराज आदि भी गृहस्थ/श्रावक को किसी भी प्रकार की बाधा अथवा पीड़ा पहुँचाए बिना आहार ग्रहण करते हैं। वे किसी को विशेष भोजन बनाने अथवा देने की याचना नहीं करते। श्रावक द्वारा भक्तिभाव से पड़गाहे जाने पर जो कुछ भी शुद्ध-प्रासुक भोजन मिल जाता है, उसे ही लेकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। जो श्रावक ऐसे सन्तोषी साधुओं को दान नहीं देता, वह निश्चय ही हिंसा का भागीदार है। उसके अन्तरंग में तीव्र लोभकषाय का सद्भाव है, इसलिए उसको दान देने का भाव नहीं होता। लोभकषाय स्वयं में भावहिंसा है, अतः ऐसा जीव लोभहिंसा से ग्रस्त है।

अपने लिये बनाया हुआ भोजन मुनि को देना अहिंसा स्वरूप ही है—

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥
॥४-१३८-१७४॥

अन्वयार्थ—(**आत्मार्थं**) अपने लिये (**कृतम्**) बनाया हुआ (**भक्तम्**) भोजन (**मुनये**) मुनि के लिये (**ददामि**) देता हूँ, (**इति**) इस प्रकार (**भावितः**) भावपूर्वक (**अरतिविषादविमुक्तः**) अप्रीति और खिन्नता रहित तथा (**शिथिलितलोभः**) लोभ को निष्क्रिय करने वाले श्रावक का (**त्याग**) दान (**अहिंसा एव**) अहिंसा स्वरूप ही (**भवति**) होता है।

अर्थ—'अपने लिये बनाया हुआ भोजन मुनि के लिये देता हूँ'—इस प्रकार भावपूर्वक, अप्रीति और खिन्नता रहित तथा लोभ को निष्क्रिय करने वाले श्रावक का दान अहिंसा स्वरूप ही होता है।

विशेषार्थ—जो वस्तु अपने निमित्त अथवा प्रयोजन से बनाई गई हो, यदि उस वस्तु को किसी दूसरे को देना पड़े तो मनुष्य को खिन्नता और लोभ उत्पन्न होता है। जो श्रावक/गृहस्थ लोभकषाय का त्याग करके तथा पश्चात्ताप, विषाद, खिन्नता आदि दोषों को दूर करके, त्याग भावपूर्वक अपने लिये बनाये हुए भोजन को मुनीश्वर को देता है, उसका यह दान अहिंसा स्वरूप ही है। आहारदान से पात्र की भूख-प्यास दूर होने से द्रव्य अहिंसा होती है, तथा दातार लोभकषाय का त्याग करता है इसलिये भाव अहिंसा भी होती है। इस प्रकार दान देने वाला पूर्ण अहिंसा व्रत का पालन करता है।

॥ चौथा सम्यक्चारित्र अधिकार समाप्त हुआ ॥

(५) सल्लेखनाधर्म अधिकार ।

अन्त में सल्लेखना ग्रहण करनी चाहिये—

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥
॥ ५-१-१७५ ॥

अन्वयार्थ—(इयम्) यह (एका) एक (**पश्चिम सल्लेखना एव**) मरण के अन्त समय में होने वाली सल्लेखना ही (**मे**) मेरे (**धर्मस्वं**) धर्मरूपी धन को (**मया**) मेरे (**समं**) साथ (**नेतुम्**) ले चलने में (**समर्था**) समर्थ है (**इति**) इस प्रकार (**भक्त्या**) भक्तिपूर्वक (**सततम्**) निरन्तर (**भावनीया**) भावना करनी चाहिए ।

अर्थ—'यह एक, मरण के अन्त समय में होने वाली, सल्लेखना ही मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने में समर्थ है'—इस प्रकार भक्तिपूर्वक निरन्तर भावना करनी चाहिये ।

विशेषार्थ—इस श्लोक में सल्लेखना पूर्वक मरण का उपदेश है । 'सल्लेखना' का अर्थ है सम्यक् प्रकार से कषायों को कृश करना । बाह्य तथा अन्तरंग के भेद से सल्लेखना दो प्रकार की है । बाह्य में शरीर को कृश करने के लिये आहार का क्रम-क्रम से घटाना अथवा सर्वथा त्याग करना 'काय सल्लेखना' है तथा अन्तरंग में संसार के कारणभूत मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषायों का घटाना अथवा सर्वथा त्याग करना 'कषाय सल्लेखना' है । पंचाणुव्रत आदि के समान गृहस्थ/श्रावक को मरण समय निकट जानकर सल्लेखना अवश्य धारण करनी चाहिये । जीव को ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि 'यदि मरण समय

परिणाम बिगड़ गये तो दुर्गति में जाऊँगा, जीवन पर्यन्त की धर्म साधना अथवा धर्मपालन रूपी धन को सल्लेखना ही मेरे साथ परलोक में ले जा सकती है, अतः मुझे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सल्लेखना धारण करनी चाहिए।' उसे समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल पापों का तथा क्रोधादि का परित्याग करके धर्मध्यानपूर्वक शरीर का त्याग करना चाहिए। इस समय यथाशक्ति अन्न-पान इत्यादि का क्रम-क्रम से अथवा सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

श्रावक को सल्लेखना धारण करने का विचार सदा करते रहना चाहिये—

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्॥
॥५-२-१७६॥

अन्वयार्थ—(**अहं**) मैं (**मरणान्ते**) मरण के अन्त समय (**अवश्यम्**) अवश्य ही (**विधिना**) शास्त्रोक्त विधि से (**सल्लेखनां**) सल्लेखना धारण (**करिष्यामि**) करूंगा (**इति**) इस प्रकार (**भावनापरिणतः**) भावनारूप परिणति करके (**अनागतमपि**) मरण काल आने से पहले ही (**इदं**) यह (**शीलम्**) सल्लेखनाव्रत (**पालयेत्**) पालना चाहिये।

अर्थ—'मैं मरण के अन्त समय अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना धारण करूंगा'—इस प्रकार भावना रूप परिणति करके मरणकाल आने से पहले ही यह सल्लेखनाव्रत पालना चाहिये।

विशेषार्थ—सल्लेखना का धारण तो अन्तकाल अर्थात् मरण समय में होता है। परन्तु जीव की आयु प्रति समय घटती जाती है, जिसके अन्त में मरना अनिवार्य है। 'मैं अन्त समय में अवश्य ही शास्त्रों की विधि अनुसार सल्लेखना धारण करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा तथा भावना सतत करते रहना चाहिए। सतत ऐसी भावना करने से सल्लेखना धारण करने का संकल्प/उत्साह प्रतिसमय दृढ़ होता जाता

है तथा सल्लेखनाव्रत धारण करने से पहले ही यह शील पालन करने में आ जाता है। इसलिए मरण समय सल्लेखना धारण करने का परिणाम बनाए रखना चाहिए।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है—

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥
॥ ५-३-१७७ ॥

अन्वयार्थ—(**अवश्यं**) अवश्य ही (**भाविनि**) होने वाले (**मरणे**) मरण होने पर (**कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे**) कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र के व्यापार में (**व्याप्रियमाणस्य**) प्रवर्त्तमान पुरुष को (**रागादिमन्तरेण**) रागादि भावों के अभाव में (**आत्मघातः**) आत्म-घात (**न अस्ति**) नहीं है।

अर्थ—अवश्य ही होने वाले मरण होने पर (अर्थात् जिस समय मरण होना निश्चित ही हो) कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र के व्यापार में प्रवर्त्तमान पुरुष को रागादि के अभाव में आत्मघात नहीं है।

विशेषार्थ—जब किसी भी उपाय से जीवित रहने की संभावना न हो अर्थात् मरण के अवश्यंभावी होने पर उस समय विधिपूर्वक सल्लेखना धारण करके शरीर का त्याग करने में आत्मघात का दोष नहीं लगता। क्योंकि सल्लेखना धारण करने वाला जीव अपना अन्त समय निकट जानकर समस्त पापों, क्रोधादि कषायों, रागद्वेषादि तथा सांसारिक विषयों का परित्याग करके धर्मध्यानपूर्वक स्वेच्छा से शरीर का त्याग करता है, इसलिये कषाय भावों का अभाव होने से उसे आत्मघात का दोष किसी प्रकार भी नहीं लगता। यदि कषायों के वशीभूत होकर अग्नि में जलकर, पानी में डूबकर अथवा शस्त्र-घात इत्यादि से मरण करे तो आत्मघात का दोष अवश्य लगेगा।

आत्मघाती कौन है ?—

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः॥
॥ ५-४-१७८ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय ही (**कषायाविष्टः**) क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ (यः) जो पुरुष (**कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः**) श्वास-निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने (**प्राणान्**) प्राणों को (**व्यपरोपयति**) पृथक् करता है (**तस्य**) उसका यह घात (**सत्यम्**) वास्तव में (**आत्मवधः**) आत्मघात (**स्यात्**) होता है।

अर्थ—निश्चय ही क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ जो पुरुष श्वास-निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने प्राणों को पृथक् करता है (अन्त करता है), उसका यह घात वास्तव में आत्मघात होता है।

विशेषार्थ—जब कोई जीव क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा मोह, राग, द्वेष के वशीभूत होकर श्वास का निरोध करके, पानी में डूबकर, अग्नि में जलकर, विष खाकर, शस्त्रादि से घात करके, फाँसी लगा-कर अथवा और भी अन्य किसी प्रकार से अपने प्राणों का घात करता है तो उसे आत्मघात कहते हैं। परन्तु समस्त कषायों के त्यागपूर्वक, शास्त्रविधि अनुसार सल्लेखना ग्रहण करके, धर्मध्यान में लीन होकर जो मरण किया जाता है—शरीर का त्याग किया जाता है, वह आत्मघात नहीं कहलाता।

सल्लेखना, आराधना, समाधिमरण या संन्यासमरण—इन सबका एक ही अर्थ है। सल्लेखना का विधान मुनि तथा गृहस्थ दोनों के लिये है, इसलिये इसका कथन बारह व्रतों के बाद किया गया है। जब शरीर किसी असाध्य रोग से अथवा बुढ़ापे से असमर्थ हो जाए, या देव, मनुष्य, तिर्यंच कृत कोई दुर्निवार उपद्रव/उपसर्ग आ पड़े अथवा कहीं अकाल पड़ने से भोजन आदि की व्यवस्था न बने तथा और भी कोई ऐसा कारण उपस्थित हो जाए जिससे धर्मसाधना में

बाधा आये या धर्म का नाश होता हो तो सल्लेखना धारण करनी चाहिये। शरीर की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि धर्म का साधन शरीर के माध्यम से ही होता है। रोगादिक होने पर यथा-योग्य उपचार करना चाहिए। यदि रोग असाध्य है, उपचार से लाभ की कोई संभावना न रहे तो विधिपूर्वक धर्मसाधना करते हुए शरीर का त्याग करना चाहिए। सल्लेखना में आहार का त्याग दो प्रकार से होता है—एक 'नियम' रूप से तथा दूसरा 'यम' रूप से। समय की मर्यादा रखकर जो त्याग किया जाता है उसे नियम रूप त्याग कहते हैं तथा जीवनपर्यन्त जो त्याग किया जाता है उसे यमरूप त्याग कहते हैं। यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह हो अथवा रोगादि का उपचार संभव हो तो मर्यादापूर्वक नियम रूप से आहार के त्याग की प्रतिज्ञा करनी चाहिए और यदि मरण निश्चित/अवश्यंभावी हो तो यम रूप त्याग करना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् शरीर तो फिर भी प्राप्त हो जाएगा, परन्तु रत्नत्रय रूप धर्मसाधना की योग्यता दुर्लभ है। सल्लेखना धारण करने वाले को समस्त मोह, राग, द्वेष तथा परिग्रह रूपी भावों के त्यागपूर्वक, शरीर से ममत्व छोड़कर, चार प्रकार के संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) की साक्षी-पूर्वक सल्लेखना ग्रहण करनी चाहए। अन्त समय सल्लेखना धारण करने से जीवनभर की हुई धर्म-आराधना सफल हो जाती है, क्योंकि क्षणमात्र में चिरकाल-संचित पाप नष्ट हो जाते हैं तथा सद्‌गति की प्राप्ति होती है। यदि असंयमपूर्वक अथवा शरीर में एकत्व बुद्धिपूर्वक या संक्लेश परिणामों में मृत्यु हो जाये तो अन्तमरण बिगड़ने से जीवन भर की धर्मसाधना निष्फल हो जाए तथा दुर्गति की प्राप्ति हो जाए। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि अन्त समय सल्लेखना धारण करने से ही पापों का नाश तथा सद्‌गति की प्राप्ति इत्यादि सर्व मनोरथ सिद्ध जाते हैं तो जीवन भर धर्मसाधना करने की क्या आव-श्यकता है? समाधान—जिस प्रकार कोई सैनिक जीवन भर तो शस्त्र अभ्यास करे परन्तु युद्ध के समय शस्त्र का प्रयोग न कर सके तो उसका सारा अभ्यास बेकार ही हुआ। उसी प्रकार जीवनपर्यंत तो व्रत, संयम, तप इत्यादि से रत्नत्रय रूप धर्म की साधना की, और अन्त समय में सल्लेखना धारण न कर सके तो जीवनभर की साधना

बेकार हो हुई। अन्तसमय सल्लेखना धारण करना ही तप इत्यादि का फल है। जीवनभर निरन्तर धर्म की आराधना में सावधान रहने वाले पुरुष ही सल्लेखना ग्रहण कर सकते हैं।

अब सल्लेखना ग्रहण करने की विधि का वर्णन करते हैं:— सल्लेखनार्थी पुरुष को चाहिए कि समस्त सांसारिक धन-सम्पदा से सर्वथा मोह छोड़ दे। स्त्री-पुत्र तथा कुटुम्बियों से भी ममत्व भाव का परित्याग कर दे। समस्त कुटुम्बी तथा परिजनों से अपने आपको क्षमा कराए तथा स्वयं भी उनको क्षमा करे। तत्पश्चात् घर छोड़ कर जहाँ तक बन सके तीर्थस्थान में अथवा किसी मन्दिर इत्यादि में अनुभवी साधर्मी आचार्यश्री की सहायता अवश्य ले तथा उनकी देख-रेख में उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करे। आचार्यश्री के सन्मुख अपने कृत, कारित अथवा अनुमोदित समस्त पापों की तथा व्रतों में लगे अतिचारों की, निष्कपट भाव से, बालकवत् आलोचना करके प्रायश्चित्तपूर्वक अन्तरंग का शोधन करना चाहिए। उसके पश्चात् अगर हो सके तो दिगम्बर मुनि के अहिंसादि महाव्रतों को ग्रहण करे अथवा एलक/क्षुल्लक के व्रतों का ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य के सम्बोधन से सन्तुष्ट होकर क्रम-क्रम से आहार का त्याग करना चाहिए, क्योंकि एक साथ त्याग करने से आकुलता हो सकती है। सबसे पहले अन्न-दाल, रोटी-चावल इत्यादि का क्रम से त्याग करके दूध आदि पीने योग्य पदार्थों को बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् उनको भी छोड़ दे तथा छाछ आदि को बढ़ावे और फिर उसका भी त्याग करके केवल गरम पानी ग्रहण करे। भय, शोक, मोह, क्लेश इत्यादि को बल और उत्साहपूर्वक त्याग कर प्रसन्न चित्त से शास्त्रों को स्वयं पढ़े अथवा दूसरों से सुने। पंच-परमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करे।

अन्त में गरम पानी का भी त्याग करके उपवास करना चाहिये। कदाचित् शक्ति की हीनता हो तो उपवास न करने में कोई हानि नहीं है। अन्त समय किसी प्रकार की आकुलता से परिणाम नहीं बिगड़ने चाहिये, यही सल्लेखना की सफलता है। णमोकार मन्त्र का

जाप करते-करते अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का ध्यान करते हुये पूर्ण सावधानी पूर्वक पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके शरीर त्यागना चाहिये। यह सल्लेखना ग्रहण करने की संक्षिप्त विधि है।

सल्लेखना भी अहिंसा है—

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥
॥५-५-१७९॥

अन्वयार्थ—(**अतः**) क्योंकि (**अत्र**) इस सल्लेखना मरण में (**हिंसाया**) हिंसा की (**हेतवः**) हेतुभूत (**कषायाः**) कषाय (**तनुताम्**) क्षीणता को (**नीयन्ते**) प्राप्त होती हैं (**ततः**) इसलिये (**सल्लेखनामपि**) सल्लेखना को भी आचार्य (**अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं**) अहिंसा की सिद्धि के लिये ही (**प्राहुः**) कहते हैं।

अर्थ—क्योंकि इस सल्लेखना मरण में हिंसा की हेतुभूत कषाय क्षीणता को प्राप्त होती हैं, इसलिये सल्लेखना को भी आचार्य अहिंसा की सिद्धि के लिये ही कहते हैं।

विशेषार्थ—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मोह, राग, द्वेषादि कषाय हैं और उनके वशीभूत होकर ही व्यक्ति सर्व प्रकार की हिंसा करता है, अतः कषायें ही हिंसा को मूल कारण हैं। सल्लेखना ग्रहण करने पर कषायें क्षीण हो जाती हैं, अथवा घट जाती हैं। इसलिये कषायों की मन्दता अथवा अभाव में अहिंसाव्रत की सिद्धि/शुद्धि होती है। इस प्रकार सल्लेखना का ग्रहण भी अहिंसा है।

शीलों के कथन का संकोच—

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥
॥ ५-६-१८० ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**इति**) इस प्रकार (**व्रतरक्षार्थं**) पंच अणुव्रतों की रक्षा के लिए (**सकलशीलानि**) समस्त शीलों को (**सततं**) निरन्तर (**पालयति**) पालता है (**तम्**) उस पुरुष को (**शिवपदश्रीः**) मोक्षरूपी लक्ष्मी (**उत्सुका**) उत्सुकतापूर्वक (**पतिंवरा इव**) स्वयंवर की कन्या की तरह (**स्वयमेव**) स्वयं ही (**वरयति**) स्वीकार करती है—प्राप्त होती है।

अर्थ—जो इस प्रकार पँचाणुव्रतों की रक्षा के लिए समस्त शीलों को निरन्तर पालता है, उस पुरुष को मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुकतापूर्वक स्वयंवर की कन्या की तरह स्वयं ही स्वीकार करती है—प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—जो भव्य धर्मात्मा जीव पाँच अणुव्रतों का तथा उनकी रक्षा के लिए तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा अन्त में सल्लेखना का निरन्तर पालन करता है, उसे मुक्तिपद की प्राप्ति अवश्य होती है। इसी तथ्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। जैसे स्वयंवर मण्डप में कन्या स्वयं ही अपने योग्य पुरुष को देखकर वरमाला डाल देती है, वैसे ही मुक्तिरूपी कन्या अपने योग्य अणुव्रतादि से संयुक्त व्रतधारी जीव को अपना स्वामी बना लेती है, अर्थात् वह जीव संसार से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार अब तक श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, एक सल्लेखना तथा एक सम्यक्त्व—इस प्रकार श्रावक के योग्य चौदह विषयों का वर्णन समाप्त हुआ। आगे इनके अतिचारों का वर्णन करेंगे।

॥ पाँचवाँ सल्लेखनाधर्म अधिकार समाप्त हुआ ॥

(६) अतिचार अधिकार

अतिचारों का त्याग करना चाहिये—

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥
॥ ६-१-१८१ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वे) सम्यक्त्व में (व्रतेषु) व्रतों में और (शीलेषु) शीलों में (पञ्च पञ्चेति) पाँच-पाँच के क्रम से (अमी) यह (सप्ततिः) सत्तर (यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः) यथार्थ शुद्धि के रोकने वाले (अतिचाराः) अतिचार (हेयाः) छोड़ने योग्य हैं ।

अर्थ—सम्यक्त्व में, व्रतों में और शीलों में पाँच-पाँच के क्रम से यह सत्तर यथार्थ शुद्धि के रोकने वाले अतिचार छोड़ने योग्य हैं ।

विशेषार्थ—इस श्लोक में अतिचारों—व्रतों में लगने वाले दोषों के त्याग का उपदेश है । प्रमाद, शिथिलता अथवा आलस्य तथा राग के कारण अन्तरंग अथवा बहिरंग व्रत का एकदेश भंग होना अर्थात् व्रत में दूषण लगना 'अतिचार' कहलाता है । व्रत का सर्वदेश भंग होना 'अनाचार' कहा जाता है । अतिचार लगने से व्रतों की यथार्थ शुद्धता नष्ट हो जाती है, अतः उनका (अतिचारों का) त्याग करना परम आवश्यक है । सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों तथा सल्लेखना—इस प्रकार चौदह विषयों में प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार होने से कुल संख्या सत्तर हो जाती है । इनमें पूर्ण शुद्धि बनाये रखने के लिये अतिचारों का सावधानीपूर्वक त्याग करना चाहिए ।

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार—

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥
॥ ६-२-१८२ ॥

अन्वयार्थ—(**शङ्का**) सन्देह (**काङ्क्षा**) वांछा (**विचिकित्सा**) ग्लानि (**तथैव**) उसी प्रकार (**अन्यदृष्टीनाम्**) मिथ्यादृष्टियों की (**संस्तवः**) स्तुति (**च**) और (**मनसा**) मन से (**तत्प्रशंसा**) उनकी प्रशंसा करना (**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि के (**अतिचाराः**) अतिचार हैं।

अर्थ—सन्देह, वांछा, ग्लानि, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों की स्तुति और मन से उनकी प्रशंसा करना सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि-संस्तव और अन्यदृष्टि मनसा प्रशंसा—ये सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं। जब तक सम्यग्दर्शन के अतिचारों का त्याग नहीं होता, तब तक जीव निश्चय सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। (१) जिनेन्द्रदेव के अनेकान्त-मय वचनों में शंका/सन्देह करना 'शङ्का' अतिचार है। (२) व्रत पालन के फलस्वरूप इस लोक अथवा परलोक सम्बन्धी भोगों की वांछा/इच्छा करना 'काङ्क्षा' अतिचार है। (३) अनिष्ट दुर्गन्धमय पदार्थों अथवा मुनिराज के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि/घृणा करना 'विचिकित्सा' अतिचार है। (४) पाखंडी मिथ्यादृष्टि जीव की वचन से सराहना/बड़ाई करना अथवा स्तुति करना 'अन्यदृष्टि-संस्तव' अतिचार है, तथा (५) उन्हीं मिथ्यादृष्टियों के कार्यों की मन से प्रशंसा/सराहना करना 'अन्यदृष्टिमनसा प्रशंसा' अतिचार हैं। इन अतिचारों से सम्यग्दर्शन में मलिनता आती है, अतः इनका साव-धानीपूर्वक त्याग करना चाहिए।

अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार—

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥
॥ ६-३-१८३ ॥

अन्वयार्थ—(छेदनताडनबन्धाः) छेदना, ताड़न करना, बाँधना, (समधिकस्य) बहुत अधिक (भारस्य) बोझ का (आरोपणं) लादना (च) और (पानान्नयोः) अन्न-जल (रोधः) रोकना—न देना (इति) इस प्रकार ये (अहिंसाव्रतस्य) अहिंसाणुव्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—छेदन, ताड़न करना, बाँधना, बहुत अधिक बोझ का लादना और अन्नजल रोकना—न देना—इस प्रकार अहिंसाणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—यहाँ अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार—छेदन, ताड़न, बन्ध, 'समधिकस्य भारस्यारोपणं' तथा 'पानान्नयोः रोधः' का वर्णन है। (१) दुर्भावना से किसी भी जीव के कान, नाक, हाथ, पैर इत्यादि अंग छेदना/काटना 'छेदन' अतिचार है। (२) लकड़ी, कोड़ा, चाबुक इत्यादि से पीटना/मारना 'ताड़न' अतिचार है। (३) स्वेच्छा-पूर्वक गमन करने वाले किसी भी जीव को एक स्थान पर रोके रखना, बाँधे रखना, पिंजरे में बन्द रखना अथवा उसके इच्छित स्थान पर जाने से रोकना 'बन्ध' अतिचार है। (४) मनुष्य अथवा उंट, घोड़ा, बैल इत्यादि पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना 'समधिकस्य भारस्यारोपणं' अतिचार है तथा (५) योग्य समय पर उन्हें खान-पान इत्यादि (रोटी, चारा, घास, पानी इत्यादि) न देना अथवा उन्हें भूखे रखना 'पानान्नयोः रोधः' अतिचार है। इन पाँच अतिचारों से अहिंसाणुव्रत मलिन होता है, अतः इनका त्याग करना चाहिए।

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार—

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥
॥ ६-४-१८४ ॥

अन्वयार्थ—(**मिथ्योपदेशदानं**) झूठा उपदेश देना (**रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती**) एकान्त की गुप्त बातों का प्रकट करना, झूठा लेख लिखना (**न्यासापहारवचनं**) धरोहर को हरण करने के वचन कहना (**च**) और (**साकारमन्त्रभेदः**) काय की चेष्टा से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रकट करना—ये सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

अर्थ—झूठा उपदेश देना, एकान्त की गुप्त बातों को प्रकट करना झूठा लेख लिखना, धरोहर को हरण करने के वचन कहना और काय की चेष्टा से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रकट करना—ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—मिथ्योपदेशदान, रहसोऽभ्याख्यान, कूटलेखकृति, न्यासापहारवचन और साकारमन्त्रभेद—ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। (१) स्वर्ग और मोक्ष मार्ग के विपरीत अथवा अन्य कोई सिद्धांत विरुद्ध झूठा उपदेश देना जिससे जीवों का अहित हो 'मिथ्योपदेशदान' अतिचार है। (२) किसी स्त्री-पुरुष की गुप्त बात अथवा एकान्त में की हुई क्रिया को प्रकट करना 'रहसोऽभ्याख्यान' अतिचार है। (३) झूठा लेख लिखना अथवा किसी को ठगने के लिए कपटपूर्वक झूठी रसीद या अन्य जाली दस्तावेज बनाना, झूठी गवाही इत्यादि देना 'कूटलेखकृति' अतिचार है। (४) किसी की धरोहर मार लेना या मारने की चेष्टा करना, ज्यादा धरोहर की जगह कम देना, या कोई व्यक्ति धरोहर तो ज्यादा रख गया परन्तु कालान्तर से भूलने के कारण कम मांगने लगे तो उसे उतनी ही वापिस करना, शेष मार लेना 'न्यासापहारवचन' है, तथा (५) किसी के शरीर की आकृति या चेष्टा देखकर उसका अभिप्राय प्रकट करना 'साकारमन्त्रभेद' है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं, इनका त्याग अवश्य करना चाहिए।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार—

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥
॥ ६-५-१८५ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रतिरूपव्यवहारः**) प्रतिरूप व्यवहार (**स्तेननियोगः**) चोरी करने वाले की सहायता करना (**तदाहृतादानम्**) चोरी की वस्तुओं को रखना (**च**) और (**राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे**) राज्य के कानूनों का उल्लंघन करना, माप या तौल के गज/मीटर, कांटा-तराजू इत्यादि माप में कम-ज्यादा करना—ये अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

अर्थ—प्रतिरूपव्यवहार, चोरी करने वाले की सहायता करना, चोरी की वस्तु रखना, राज्य के कानूनों का उल्लंघन करना, माप या तौल के गज/मीटर, कांटा-तराजू इत्यादि माप में कम-ज्यादा करना—ये अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—प्रतिरूपव्यवहार, स्तेननियोग, तदाहृतादान, राजविरोधातिक्रम, हीनाधिकमानकरण—ये अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं। (१) असली के बदले नकली वस्तु बेचना, असली में नकली वस्तु मिलाकर असली वस्तु के भाव बेचना या बढ़िया वस्तु में घटिया वस्तु की मिलावट करके बेचना 'प्रतिरूपव्यवहार' अतिचार है। (२) चोरी करने के उपाय बताना, चोरी करने की प्रेरणा देना अथवा अनुमोदना करना 'स्तेननियोग' अतिचार है। (३) जानबूझकर चोरी की वस्तु अपने पास रखना अथवा खरीदना 'तदाहृतादान' अतिचार है। (४) राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना या राज्य के अर्थविषयक (Economic) कानून भंग करना अथवा तस्करी करना या करों (Taxes) की चोरी करना 'राजविरोधातिक्रम' अतिचार है, तथा (५) वस्तु खरीदते समय मापने-तौलने के उपकरण—मीटर, बाट इत्यादि अधिक रखना ताकि ज्यादा वस्तु की प्राप्ति हो और मूल्य कम वस्तु का देना पड़े और बेचते समय उपकरण कम रखना ताकि दाम पूरे मिलें और वस्तु कम दी जाये, इस प्रकार

अनुचित लाभ उठाना 'हीनाधिकमानकरण' अतिचार है। इन सब क्रियाओं में चोरी का दोष लगता है तथा पकड़े जाने पर समाज में मानहानि तथा राज्य से दण्डित होना पड़ता है, अतः इनका त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार—

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥
॥ ६-७-१८६ ॥

अन्वयार्थ—(**स्मरतीव्राभिनिवेशः**) कामसेवन की तीव्र इच्छा रखना (**अनङ्गक्रीडा**) योग्य अङ्गों से भिन्न दूसरे अंगों से क्रीड़ा करना (**अन्यपरिणयनकरणम्**) दूसरे का विवाह करना (**च**) और (**अपरिगृहीतेतरयोः**) कुंवारी अथवा विवाहित (**इत्वरिकयोः**) व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास (**गमने**) जाना अथवा उनसे लेनदेन आदि का व्यवहार करना (**एते**) ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—कामसेवन की तीव्र इच्छा रखना, योग्य अंगों से भिन्न दूसरे अंगों से क्रीड़ा करना, दूसरे का विवाह करना और कुँवारी अथवा विवाहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास जाना अथवा उनसे लेन-देन आदि का व्यवहार करना—ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—स्मरतीव्राभिनिवेश, अनङ्गक्रीड़ा, अन्यपरिणयनकरण, अपरिगृहीत-इत्वरिका-गमन व परिगृहीत-इत्वरिका-गमन—ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। (१) कामभोग विषय सेवन (मैथुन) की तीव्र लालसा रखना 'स्मरतीव्राभिनिवेश अतिचार है। (२) विषय-सेवन के अंग निश्चित हैं, उन अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से अथवा अन्य अंगों में क्रीड़ा करना 'अनङ्गक्रीड़ा' अतिचार है। (३) बिचोलिया बनकर अन्य लोगों के पुत्र-पुत्रियों के विवाह करवाना

'अन्यपरिणयनकरण' अतिचार है। (४) इत्वरिका— व्यभिचारिणी स्त्री दो प्रकार की होती हैं—एक अपरिगृहीता अर्थात् अनब्याही वेश्या. कन्या अथवा दासी इत्यादि तथा दूसरी परिगृहीता अर्थात् अन्य पुरुष की विवाहिता पत्नी। व्यभिचारिणी कुंवारी स्त्री, वेश्या, कन्या अथवा दासी इत्यादि के पास जाना, उनसे लेन-देन करना, उनके रूपश्रृंगारादि को देखना, उनसे बात-चीत करना अपरिगृहीत-इत्वरिका गमन अतिचार है तथा (५) व्यभिचारिणी विवाहित स्त्री के साथ भी इसी प्रकार का (उपर्युक्त) व्यवहार करना 'परिगृहीता-इत्वरिकागमन' अतिचार है। ये पाँच अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रत में मलिनता उत्पन्न करते हैं अतः इनको अवश्य छोड़ना चाहिये।

परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार—

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥
॥ ६-८-१८७ ॥

अन्वयार्थ—(**वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्**) घर, भूमि, सोना-चाँदी, हीरा, मोती आदि सम्पदा, धन, धान्य, दास, दासी और (**कुप्यस्य**) वस्त्र आदि के (**भेदयोः**) दोनों भेदों के (**अपि**) भी (**परिमाणातिक्रियाः**) परिमाण का उल्लंघन करना—ये परिग्रह परिमाण व्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—घर-भूमि, सोना-चाँदी, हीरा-मोती तथा आभूषण इत्यादि सम्पदा, धन-धान्य, दास-दासी और वस्त्र आदि के दोनों भेदों के भी परिमाण का उल्लंघन करना—ये परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—क्षेत्र-वास्तु के परिमाण का उल्लंघन, चाँदी-सोना-हीरा, मोती, तथा आभूषण आदि के परिमाण का उल्लंघन, धन-धान्य के परिमाण का उल्लंघन, दासी-दास के परिमाण का उल्लंघन तथा कुप्य आदि परिमाण का उल्लंघन—ये परिग्रहपरिमाणव्रत के

पांच अतिचार हैं। (१) क्षेत्र-वास्तु (खेत और घर) का परिमाण बढ़ा देना, (२) सोना-चांदी, हीरा-मोती तथा आभूषण इत्यादि का परिमाण बढ़ा देना, (३) धन-धान्य (गाय, भैंस, घोड़ा इत्यादि पशु तथा गेहूं, चना, चावल इत्यादि अन्न) का परिमाण बढ़ा देना, (४) दासी-दास का परिमाण बढ़ा देना, तथा (५) कुप्य आदि (सब प्रकार के वस्त्र और बरतन इत्यादि) का परिमाण बढ़ा देना—ये परिग्रह-परिमाणव्रत के पांच अतिचार हैं। अथवा किसी भी युगल में एक का परिमाण कम करके दूसरे का परिमाण बढ़ा लेना भी अतिचार है, जैसे—क्षेत्र-वास्तु युगल में निश्चित किये गये 'क्षेत्र' के परिमाण को कम करके 'वास्तु' का परिमाण बढ़ा लेना। पदार्थों में मूर्च्छाभाव घटाने के लिये अतिचारों का त्याग आवश्यक है।

दिग्व्रत के पांच अतिचार—

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य॥
॥ ६-९-१८८ ॥

अन्वयार्थ—(**ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः**) ऊपर, नीचे और तिर्यक् भूमि की मर्यादित सीमा का उल्लंघन करना (**क्षेत्रवृद्धिः**) लोभादिवश मर्यादित क्षेत्र को बढ़ाना (**स्मृत्यन्तरस्य आधानम्**) मर्यादित क्षेत्र को भूलकर अतिरिक्त क्षेत्र को धारण करना (**इति**) इस प्रकार (**प्रथमशीलस्य**) प्रथमशील—दिग्व्रत के (**पञ्च**) पांच अतिचार (**गदिताः**) कहे गए हैं।

अर्थ—ऊपर, नीचे और तिर्यक् भूमि की मर्यादित सीमा का उल्लंघन करना, लोभादिवश मर्यादित क्षेत्र को बढ़ाना, मर्यादित क्षेत्र को भूलकर अतिरिक्त क्षेत्र को धारण करना, इस प्रकार प्रथमशील—दिग्व्रत के पांच अतिचार कहे गए हैं।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि और स्मृत्यन्तराधान—ये दिग्व्रत के पांच अतिचार हैं। (१)

पर्वतों पर चढ़ते समय अथवा हवाई जहाज से यात्रा करते समय ऊपर की दिशा में मर्यादित सीमा का उल्लंघन करना 'ऊर्ध्वव्यतिक्रम' अतिचार है। (२) गहरे कुएँ में या खानादि में नीचे जाते समय मर्यादित सीमा का उल्लंघन करना 'अधोव्यतिक्रम' अतिचार है (३) बिल, गुफा अथवा तहखाने में घुसते समय मर्यादित तिर्यक् (समान भूमि) दिशाओं का उल्लंघन करना 'तिर्यग्व्यतिक्रम' अतिचार है। (४) चारों दिशाओं तथा चारों विदिशाओं में मर्यादित सीमा को लोभ के वश बढ़ाना अथवा किसी दिशा की मर्यादा कम करके दूसरी दिशा की मर्यादा बढ़ाना 'क्षेत्रवृद्धि' अतिचार है तथा (५) मर्यादित सीमा को भूलकर उसका उल्लंघन करना 'स्मृत्यन्तराधान' अतिचार है। व्रती पुरुष को की हुई मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

देशव्रत के पाँच अतिचार—

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति॥
॥ ६-१०-१८९ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रेष्यस्य संप्रयोजनम्**) मर्यादित क्षेत्र के बाहर दूसरे पुरुष को भेजना (**आनयनं**) वहां से कोई वस्तु मंगाना (**शब्दरूप-विनिपातौ**) शब्द सुनाना, रूप दिखाना, इशारा करना और (**पुद्गलानां**) कंकड़ आदि पुद्गल (**क्षेपोऽपि**) फेंकना भी (**इति**) इस प्रकार (**द्वितीयशीलस्य**) दूसरे शीलव्रत—देशव्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार कहे गए हैं।

अर्थ—मर्यादित क्षेत्र के बाहर दूसरे पुरुष को भेजना, वहां से कोई वस्तु मंगाना, शब्द सुनाना, रूप दिखाना, इशारा करना और कंकड़ आदि पुद्गल फेंकना भी—इस प्रकार दूसरे शीलव्रत—देशव्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं।

विशेषार्थ—प्रेष्यसंप्रयोजन, आनयन, शब्दविनिपात, रूपविनिपात और पुद्गलक्षेप—ये देशव्रत के पाँच अतिचार हैं (१) स्वयं तो

मर्यादित क्षेत्र के अन्दर रहना परन्तु नौकर आदि को मर्यादा के बाहर भेजकर काम करालेना 'प्रेष्यसंप्रयोजन' अतिचार है। (२) मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु मंगालेना 'आनयन' अतिचार है। (३) मर्यादित क्षेत्र के बाहर शब्द करके अर्थात् बोलकर अपना काम करवाना 'शब्दविनिपात' अतिचार है। (४) मर्यादित क्षेत्र के बाहर अपना रूप दिखाकर काम करालेना 'रूपविनिपात' अतिचार है तथा (५) मर्यादित क्षेत्र के बाहर कंकड़ इत्यादि कोई वस्तु फेंक कर अपना काम करालेना 'पुद्गल क्षेप' अतिचार है। जब रागादिक भावों पर काबू नहीं रहता तभी व्रतों में अतिचार लगते हैं। व्रतधारी को इन अतिचारों से बचना चाहिए।

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पांच अतिचार--

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् ।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥
॥ ६-११-१९० ॥

अन्वयार्थ--(**कन्दर्पः**) रागभाव से हास्य सहित भांड वचन बोलना (**कौत्कुच्यं**) हास्य वचन सहित काय की कुचेष्टा करना (**भोगानर्थक्यम्**) भोगोपभोग के पदार्थों का जरूरत से अधिक संग्रह करना (**मौखर्यम्**) फालतू बकवाद करना (**च**) और (**असमीक्षिताधिकरणं**) बिना सोचे-विचारे कार्य करना (**इति**) इस प्रकार (**तृतीयशीलस्य**) तीसरे शीलव्रत—अनर्थदण्डविरतिव्रत के (**अपि**) भी (**पञ्च**) पांच अतिचार हैं।

अर्थ—रागभाव से हास्य सहित भांड वचन बोलना, हास्य वचन सहित काय की कुचेष्टा करना, भोगोपभोग पदार्थों का जरूरत से ज्यादा संग्रह करना, फालतू बकवाद करना और बिना सोचे-विचारे कार्य करना—इस प्रकार तीसरे शीलव्रत—अनर्थदण्डविरतिव्रत के भी पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—कन्दर्प, कौत्कुच्य, भोगानर्थक्य, मौखर्य तथा असमीक्षाधिकरण—ये अनर्थदण्डत्यागव्रत के पांच अतिचार हैं।(१) राग-

भाव से हास्यसहित कामवर्द्धक अशिष्ट भांड वचन बोलना 'कन्दर्प' अतिचार है। (२) हास्य वचन बोलना तथा साथ-साथ शरीर की कुचेष्टा करना 'कौत्कुच्य' अतिचार है। (३) अपनी जरूरत से अधिक भोगोपभोग की सामग्री इकट्ठी करना 'भोगानर्थक्य' अतिचार है। (४) बिना प्रयोजन बकवाद करना, धृष्टता युक्त असभ्य वचन बोलना अथवा लड़ाई-झगड़ा कराने वाले वचन बोलना 'मौखर्य' अतिचार है तथा (५) बिना विचारे प्रयोजन से अधिक कार्य करना अथवा मन, वचन, काय की निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना 'असमीक्षाधिकरण' अतिचार है। यह सब कार्य व्रत में मलिनता उत्पन्न करते हैं, अतः त्यागने योग्य हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार—

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य॥
॥ ६-१२-१९१ ॥

अन्वयार्थ—(**वचनमनःकायानां**) वचन, मन और काय की (**दुःप्रणिधानं**) खोटी प्रवृत्ति (**तु**) तथा (**अनादरः**) अनादर (**च**) और (**स्मृत्यनुपस्थानयुताः**) एकाग्रता न होने के कारण मंत्रपाठ या विधि का भूल जाना (**एव**) भी (**इति**) इस प्रकार (**चतुर्थशीलस्य**) चौथे शीलव्रत—सामायिक व्रत के (**पञ्च**) पांच अतिचार हैं।

अर्थ—वचन, मन और काय की खोटी प्रवृत्ति तथा अनादर और एकाग्रता न होने के कारण मंत्रपाठ या विधि का भूल जाना भी—इस प्रकार चौथे शीलव्रत—सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—वचनदुःप्रणिधान, मनःदुःप्रणिधान, कायदुःप्रणिधान, अनादर तथा स्मृत्यनुपस्थान—ये चौथे शीलव्रत अर्थात् सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार हैं (१) सामायिक पाठ का अथवा मंत्रादि का शुद्ध उच्चारण न करना, या वचन की अन्यथा प्रवृत्ति करना 'वचनदुःप्रणिधान' अतिचार है। (२) मन को सामायिक में न

लगाना, मन में बुरी भावना उत्पन्न होना अथवा मन को अन्य सांसारिक संकल्प-विकल्प में उलझाना 'मनःदुःप्रणिधान' अतिचार है। (३) सामायिक करते समय हाथ-पैर हिलाना, आसन बदलना अथवा शरीर की निश्चलता न होना 'कायदुःप्रणिधान' अतिचार है। (४) आदर पूर्वक सामायिक न करना अथवा उत्साहहीन होकर बेगार समझकर सामायिक करना 'अनादर' अतिचार है। (५) सामायिक के मन्त्रपाठ अथवा विधि का भूल जाना 'स्मृत्यनुपस्थान' अतिचार है। सामायिक में मन, वचन और काय—इन तीन योगों की एकाग्रता अति आवश्यक है, इसके बिना सामायिक में स्थिरता नहीं आ सकती। इन अतिचारों को टालकर सामायिक करनी चाहिए।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार—

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥
॥ ६-१३-१९२ ॥

अन्वयार्थ—(**अनवेक्षिताप्रमार्जितम् आदानं**) बिना देखे तथा बिना शोधे ग्रहण करना (**संस्तरः**) चटाई आदि बिछाना (**तथा**) तथा (**उत्सर्गः**) मल-मूत्र त्याग करना (**स्मृत्यनुपस्थानम्**) उपवास की विधि इत्यादि भूल जाना (**च**) और (**अनादरः**) अनादर—ये (**उपवासस्य**) प्रोषधोपवास के (**पञ्च**) पांच अतिचार हैं।

अर्थ—विना देखे तथा विना शोधे ग्रहण करना, चटाई आदि बिछाना तथा मल-मूत्र का त्याग करना, उपवास की विधि इत्यादि भूल जाना और अनादर—ये प्रोषधोपवास के पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक में 'अनवेक्षिताप्रमार्जित' शब्द का सम्बन्ध आदान, संस्तर तथा उत्सर्ग—इन तीनों शब्दों के साथ किया गया है। तदनुसार अनवेक्षिताप्रमार्जित आदान, अनवेक्षिताप्रमार्जित संस्तर अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्ग, स्मृत्यनुपस्थान तथा अनादर—ये प्रोषधोपवास के पांच अतिचार होते हैं। (१) विना देखे-भाले तथा कोमल उपकरण से बिना शोधे/पोंछे पूजा के बरतन/सामग्री इत्यादि कोई

वस्तु ग्रहण करना 'अनवेक्षिताप्रमार्जित आदान' अतिचार है। (२) बिना देखे तथा बिना शोधे बैठना, सोना अथवा बिस्तर/चटाई बिछाना 'अनवेक्षिताप्रमार्जित संस्तर' अतिचार है। (३) बिना देखे तथा बिना साफ किये भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करना 'अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्ग' अतिचार है। (४) एकाग्रता न होने के कारण उपवास के नियम, विधि अथवा कर्त्तव्य को भूल जाना 'स्मृत्यनुपस्थान' अतिचार है तथा (५) उपवास की क्रिया में उत्साह न होना अथवा उपवास जल्दी समाप्त होने की आकुलता होना 'अनादर' अतिचार है। उपवास के दिन भूख-प्यास की आकुलता के कारण कोई भी कार्य असावधानीपूर्वक नहीं करना चाहिए। असावधानी से जीवों की विराधना होती है अतः सबही अतिचारों का त्याग करना चाहिए।

भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार—

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य॥
॥ ६-१४-१९३ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय ही (सचित्तः आहारः) सचित्त आहार (सचित्तमिश्रः) सचित्त मिश्रित आहार (सचित्तसम्बन्धः) सचित्त सम्बन्ध वाला आहार (दुष्पक्वः) दुष्पक्व आहार (च अपि) और (अभिषवः) पौष्टिक—कामोत्पादक आहार (अमी) ये (षष्ठशीलस्य) छठे शीलव्रत अर्थात् भोगोपभोगपरिमाण व्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—निश्चय ही सचित्त आहार, सचित्त मिश्रित आहार, सचित्त सम्बन्ध वाला आहार, दुष्पक्व आहार और पौष्टिक—कामोत्पादक आहार—ये छठे शीलव्रत अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—यहाँ 'आहार' शब्द का सभी अतिचारों के साथ सम्बन्ध करने से भोगोपभोगपरिमाण नामक छठे शीलव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार बनते हैं—सचित्ताहार, सचित्तमिश्राहार, सचित्त-सम्बन्धाहार, दुष्पक्वाहार तथा अभिषवाहार। (१) सचित्त अर्थात् जीव सहित वस्तु का अथवा कच्ची हरी वस्तु का आहार करना 'सचित्ताहार' अतिचार है। (२) सचित्त तथा अचित्त (जीव रहित) मिश्रित वस्तु का आहार करना 'सचित्तमिश्राहार' अतिचार है। (३) सचित्त वस्तु (हरे पत्ते इत्यादि) से ढका हुआ अथवा सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार करना 'सचित्तसम्बन्धाहार' अतिचार है। (४) जो सही प्रकार आग पर न पकी हो, कच्ची हो अथवा ज्यादा पक गई हो—ऐसी वस्तु का आहार करना 'दुष्पक्वाहार' अतिचार है। ऐसा आहार करने से पाचन यथार्थ न होने से पेट की पीड़ा आदि रोग हो जाते हैं। (५) पौष्टिक अर्थात् दूध-घी मिश्रित कामोत्पादक/बलवर्द्धक वस्तु का आहार करना 'अभिषवाहार' अति-चार है। खाद्य पदार्थों में आसक्ति/लालसा मिटाने के लिए तथा संयम पालन के लिए इन अतिचारों का त्याग करना चाहिए।

वैयावृत्त्य अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार—

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने॥
॥ ६-१५-१९४ ॥

अन्वयार्थ—(**परदातृव्यपदेशः**) परदातृव्यपदेश (**सचित्तनिक्षेप-तत्पिधाने च**) सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान (**कालस्यातिक्रमणं**) काल का अतिक्रमण (**च**) और (**मात्सर्यं**) मात्सर्य (**इति**) इस प्रकार (**अतिथिदाने**) अतिथिसंविभाग के पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—परदातृव्यपदेश, सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान, काल का अतिक्रमण और मात्सर्य—इस प्रकार अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक में अतिथिसंविभागव्रत—आहारदान की मुख्यता से अतिचारों का कथन है। परदातृव्यपदेश, सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रमण तथा मात्सर्य—ये आहारदान के पाँच अतिचार हैं। (१) घर-गृहस्थी इत्यादि सम्बन्धी कार्यों में अधिक व्यस्त होने के कारण स्वयं आहार न देकर किसी दूसरे व्यक्ति से आहार दिलवाना 'परव्यपदेश' अतिचार है। (२) आहार की वस्तु को सचित्त हरे पत्ते इत्यादि पर रखना 'सचित्तनिक्षेप' अतिचार है। (३) आहार की वस्तु को सचित्त हरे पत्ते इत्यादि से ढाँकना 'सचित्त-पिधान' अतिचार है। (४) मुनिराज के आहार के समय घर पर न रहना अथवा उस समय तक आहार तैयार न करना 'कालातिक्रमण' अतिचार है। (५) अपने घर पर मुनिराज की विधि न मिलने पर या अन्य किसी भी कारण से दूसरे श्रावक के घर आहार हो जाने पर, उससे (श्रावक से) ईर्ष्या करना अथवा उसकी प्रशंसा सहन न होना 'मात्सर्य' अतिचार है। संयमी/व्रती/त्यागी पुरुष सचित्त वस्तु के त्यागी होते हैं, अतः उपर्युक्त अतिचारों को बचाकर उन्हें प्रासुक/शुद्ध आहार देना चाहिए।

सल्लेखनाव्रत के पाँच अतिचार--

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले॥
॥ ६-१६-१९५ ॥

अन्वयार्थ—(**जीवितमरणाशंसे**) जीने की अभिलाषा, मरने की अभिलाषा (**सुहृदनुरागः**) मित्रों के प्रति अनुराग (**सुखानुबन्धः**) सुख के प्रति आसक्ति (**च**) और (**सनिदानः**) निदान सहित (**एते**) ये (**पञ्च**) पाँच अतिचार (**सल्लेखनाकाले**) सल्लेखना के समय (**भवन्ति**) होतेहैं।

अर्थ—जीने की अभिलाषा, मरने की अभिलाषा, मित्रों के प्रति अनुराग, सुख के प्रति आसक्ति और निदान सहित—ये पाँच अतिचार सल्लेखना के समय होते हैं।

विशेषार्थ—यह सल्लेखनाव्रत के दोषों का वर्णन है। जीविताशंसा, मरणाशंसा, सुहृदनुराग, सुखानुबन्ध और निदान करना—ये सल्लेखनाव्रत के पाँच अतिचार हैं। (१) सल्लेखनाव्रत ग्रहण करने के पश्चात् और अधिक समय तक जीवित रहने की अभिलाषा करना 'जीविताशंसा' अतिचार है। (२) सल्लेखना व्रत धारण करने के पश्चात् तीव्र रोग/वेदना इत्यादि से घबराकर जल्दी मरने की इच्छा करना 'मरणाशंसा' अतिचार है। (३) अपने मित्रादि के रागवश उनके साथ की हुई क्रीड़ा आदि का स्मरण/चिन्तन करना 'सुहृदनुराग' अतिचार है। (४) पूर्व में भोगे हुए नाना भोगोपभोग विषयों का अथवा सुख-सामग्री इत्यादि का स्मरण/चिन्तन या उनमें आसक्ति होना 'सुखानुबन्ध' अतिचार है तथा (५) सल्लेखना धारण या धर्म सेवन के फलस्वरूप आगामी भव (जीवन) में अच्छे-अच्छे भोगों की प्राप्ति की इच्छा करना 'निदान' अतिचार है। अन्त समय में इन अतिचारों का सावधानीपूर्वक त्याग करके पंचपरमेष्ठी के स्मरणपूर्वक शरीर छोड़ना चाहिए।

अतिचार के त्याग का फल—

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥
॥ ६-१७-१९६ ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार गृहस्थ (**एतान्**) इन पूर्वोक्त (**अतिचारान्**) अतिचारों और (**अपरान्**) दूसरे—अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि को (**अपि**) भी (**संप्रतर्क्य**) अच्छी तरह विचारपूर्वक (**परिवर्ज्य**) छोड़कर (**अमलैः**) निर्मल (**सम्यक्त्वव्रतशीलैः**) सम्यक्त्व, पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रतों द्वारा (**अचिरात्**) थोड़े ही समय में (**पुरुषार्थसिद्धिम्**) पुरुषार्थसिद्धि—मोक्ष (**एति**) को पाते हैं।

अर्थ—इस प्रकार गृहस्थ इन पूर्वोक्त अतिचारों और दूसरे—अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि को भी अच्छी तरह विचारपूर्वक छोड़कर

निर्मल सम्यक्त्व, पंचाणुव्रत और सात शील व्रतों द्वारा थोड़े ही समय में पुरुषार्थसिद्धि को अर्थात् मोक्ष को पाता है।

विशेषार्थ—जो निर्मल बुद्धि गृहस्थ पूर्वोक्त श्लोकों में कथित अतिचारों रहित तथा अन्य समस्त दोषों रहित, शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा सल्लेखनाव्रत का निर्दोष पालन करता है, वह शीघ्र ही पुरुषार्थसिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जो जीव शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म के तप के बल से निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त कर लेता है वही मोक्ष की प्राप्ति करता है। अन्य जिन जीवों की रत्नत्रय की पूर्णता नहीं हो पाती वे स्वर्ग को तथा परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

॥ छठा अतिचार अधिकार समाप्त हुआ ॥

(७) सकलचारित्र अधिकार

तप का भी आचरण करना चाहिए--

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ।।
।। ७-१-१९७ ।।

अन्वयार्थ—(**आगमे**) जैन आगम में (**चारित्रान्तर्भावात्**) चारित्र में अन्तर्भाव होने से (**तपः**) तप को (**अपि**) भी (**मोक्षाङ्गम्**) मोक्ष का अंग (**गदितम्**) कहा गया है अतः (**अनिगूहितनिजवीर्यैः**) अपनी शक्ति को न छिपाने वाले तथा (**समाहितस्वान्तैः**) सावधान चित्त वाले पुरुषों को (**तदपि**) उस तप का भी (**निषेव्यं**) सेवन करना चाहिए ।

अर्थ—जैन आगम में चारित्र में अन्तर्भाव होने से तप को भी मोक्ष का अंग कहा गया है, अतः अपनी शक्ति को न छिपाने वाले तथा सावधान चित्त वाले पुरुषों को उस तप का भी सेवन करना चाहिए।

विशेषार्थ—वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र —इन तीनों की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है, परन्तु तप का चारित्र में अन्तर्भाव होने से तप को भी मोक्ष का एक अंग कहा गया है। रागादिक कषाय भावों के नाश विना तप नहीं हो सकता, अतः उन कषाय भावों के नाश का नाम ही चारित्र है। तप करने के लिए दो बातों की आवश्यकता है—एक तो अपनी शक्ति को न छिपाना तथा दूसरे अपने मन को वश में करना। जो व्यक्ति अपनी शक्ति को छिपाकर ऐसा कहता है कि 'मैं तप नहीं कर सकता', उसका तप अंगीकार करना असंभव है। जिसका मन उसके वश में नहीं, उसके

तप अंगीकार कर लेने पर भी इच्छाय बनी रहेंगी और इच्छाओं के बने रहने पर उसके किसी प्रकार का तप संभव नहीं, क्योंकि 'इच्छा-निरोधस्तपः' —इच्छा का निरोध करना ही तप है। इसलिए मुमुक्षु जीव को अपनी शक्ति को न छिपाते हुए तथा मन को वश में करके तप ग्रहण करना चाहिए।

'तप' एक प्रकार का व्यवहार चारित्र है। व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र जो कि सम्यक्चारित्र है उसकी प्राप्ति होती है, अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती ही नहीं, इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को तप अवश्य धारण करना चाहिए।' (पं० टोडरमल—टोका पु० सि०)

बाह्य तप के छह भेद—

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ॥
॥ ७-२-१९८ ॥

अन्वयार्थ—(**अनशनम्**) अनशन (**अवमौदर्यं**) ऊनोदर (**विविक्त-शय्यासनं**) विविक्तशय्यासन (**रसत्यागः**) रस परित्याग (**कायक्लेशः**) कायक्लेश (**च**) और (**वृत्तेःसंख्या**) वृत्ति की संख्या (**इति**) इस प्रकार (**बाह्यं तपः**) बाह्य तप का (**निषेव्यम्**) सेवन करना चाहिए।

अर्थ—अनशन, ऊनोदर, विविक्त शय्यासन, रस परित्याग, कायक्लेश और वृत्ति परिसंख्यान—इस प्रकार बाह्य तप का सेवन करना चाहिए।

विशेषार्थ—जो कर्मक्षय अथवा कर्मदहन के लिए तपा जाता है वह तप है। वह तप दो प्रकार है—एक बाह्य तप तथा दूसरा अन्त-रंग तप। इस श्लोक में बाह्य तप का वर्णन है। यह तप शरीर द्वारा किया जाता है तथा दूसरों के द्वारा देखने में आता है, इसलिए 'बाह्य तप' कहलाता है। अनशन, अवमौदर्य, विविक्तशय्यासन, रसत्याग,

कायक्लेश तथा वृत्ति संख्या के भेद से बाह्य तप छह प्रकार है। (१) मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से चारों प्रकार के आहार के त्याग को 'अनशन' कहते हैं। आहार के चार भेद इस प्रकार हैं—(i) पेट भरने के लिए हाथ से खाने योग्य दाल, रोटी, चावल इत्यादि को 'खाद्य' कहते हैं। (ii) स्वादमात्र की वस्तु सुपारी, इलायची इत्यादि अथवा पेड़ा, बरफी इत्यादि मिष्ठान्न 'स्वाद्य' कहलाते हैं। (iii) चटनी इत्यादि चाटने की वस्तुयें 'लेह्य' कहलाती हैं तथा (iv) पानी, दूध, रस, शरबत इत्यादि 'पेय' कहलाते हैं। इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन से राग घटता है, कर्मों की निर्जरा होती है तथा ध्यान-अध्ययन की प्राप्ति होती। (२) पुरुष का आहार बत्तीस ग्रास तथा स्त्री का आहार अट्ठाईस ग्रास है। अपनी भूख से दो-चार आदि ग्रास कम आहार करना 'अवमौदर्य' है। इससे आलस्य घटता है, निद्रा मिटती है, ध्यान और अध्ययन में मन लगता है तथा सन्तोष प्राप्त होता है। (३) जहाँ विषयी जीवों का आवागमन न हो, ऐसे एकान्त स्थान में सोना बैठना अथवा रहना 'विविक्तशय्यासन' है। इससे ब्रह्मचर्य का पालन होता है तथा ध्यान-अध्ययन में विघ्न नहीं आता। (४) दूध, घी, दही, तेल, मीठा तथा नमक—ये छह रस हैं। इन छहों रसों का अथवा एक, दो या तीन आदि रसों का त्याग करना 'रसत्याग' है। इनके अतिरिक्त हरी वस्तुओं का भी त्याग करना चाहिए। इस प्रकार के त्याग से इन्द्रिय तथा प्राणी दोनों प्रकार का संयम होता है, पदार्थों की लालसा घटती है तथा स्वाध्याय इत्यादि की वृद्धि होती है। (५) परीषह उत्पन्न करके शारीरिक पीड़ा को सहन करना 'कायक्लेश' है। इससे शरीर में दुःख अथवा परीषह इत्यादि सहन करने की क्षमता बढ़ती है। शरीर से ममत्व/राग भाव घटता है। ध्यान की सिद्धि होती है तथा सुख की अभिलाषा भी घटती है। (६) वृत्ति अर्थात् आहार की मर्यादा करना कि 'आज मैं दो गली अथवा दो घर या तीन घर जाऊंगा, अमुक विधि से आहार मिलेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं लूंगा'—इस प्रकार प्रतिज्ञा करना 'वृत्तिसंख्या' है। इससे आहार-विषयक तृष्णा/गृद्धता का नाश होता है। इन छह बाह्य तपों का यथाशक्ति पालन करना चाहिए।

अन्तरंग तप के छह् भेद—

विनयो वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ।।
।। ७-३-१९९ ।।

अन्वयार्थ—(**विनयः**) विनय (**वैयावृत्यं**) वैयावृत्य (**प्रायश्चित्तं**) प्रायश्चित्त (**तथैव च**) और इसी प्रकार (**उत्सर्गः**) उत्सर्ग (**स्वाध्यायः**) स्वाध्याय (**अथ**) और (**ध्यानं**) ध्यान (**इति**) इस तरह (**अन्तरङ्गम्**) अन्तरंग (**तपः**) तप (**निषेव्यं**) सेवन करने योग्य (**भवति**) होता है।

अर्थ—विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त और इसी प्रकार उत्सर्ग स्वाध्याय और ध्यान—इस तरह अन्तरंग तप सेवन करने योग्य होता है।

विशेषार्थ—यह अन्तरंग तप का कथन है। मन के अधीन होने से इसे अन्तरंग तप कहते हैं। विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय तथा ध्यान—ये अन्तरंग तप के छह भेद हैं। (१) पूज्य में आदर भाव रखना 'विनय' तप है। उसके दो भेद हैं—एक मुख्य विनय तथा दूसरी उपचार विनय। मुख्य विनय के तीन भेद हैं—सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय तथा सम्यक्चारित्र विनय। इस प्रकार विनय के कुल चार भेद हैं। (i) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना, अपना सम्यग्दर्शन निर्दोष रखना तथा अन्य जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करें—ऐसी भावना करना 'सम्यग्दर्शन विनय' है। (ii) सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करना, ज्ञान का प्रचार करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, स्वाध्याय की रुचि बढ़ाने के लिए शास्त्र बाँटना, विद्यालय अथवा स्वाध्यायशाला खुलवाना तथा शास्त्र पढ़कर सुनाना/समझाना इत्यादि 'सम्यग्ज्ञान विनय' है। (iii) स्वयं चारित्र धारण करना, दूसरों को चारित्र धारण करने के लिए प्रेरित करना इत्यादि 'सम्यक्चारित्र विनय' है। (iv) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारी आचार्य, साधुओं अथवा अन्य धर्मात्माओं की शरीर से विनय करना 'उपचार विनय' है। उनके आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़कर

नमस्कार करना, चरण स्पर्श आदि करना, बैठने के लिए आसन देना उपचार विनय कहलाता है। माता-पिता तथा शिक्षागुरु का आदर करना, तीर्थक्षेत्र बन्दना करना, पूजा-भक्ति करना भी उपचार विनय है। विनय से मान कषाय घटती है तथा दर्शन-ज्ञान आदि गुणों की प्राप्ति होती है।

(२) 'वैयावृत्य'—गुरुजनों—आचार्य, उपाध्याय, साधु, आर्यिका इत्यादि त्यागी धर्मात्मा व्यक्तियों के हाथ-पैर दबाकर सेवा-सुश्रूषा करना, शुद्ध औषधि द्वारा उनके रोग निवारण का उपाय करना, आहारादि से उनका सत्कार करना, शास्त्रादि उपकरण देना, उनके लिए कुटिया/वसतिका बनवाना—ये सब कार्य 'वैयावृत्य तप' कहलाते हैं। इससे गुणों में अनुराग बढ़ता है तथा मान कषाय कम होती है।

(३) 'प्रायश्चित्त'—प्रमाद के कारण व्रतों में लगे दोषों को गुरु के सामने प्रकट करना तथा उनकी आज्ञानुसार प्रतिक्रमण पाठ पढ़ना अथवा दण्डरूप उपवास आदि ग्रहण करना तथा भविष्य में दोष न करने की प्रतिज्ञा करना 'प्रायश्चित्त तप' है। इससे चारित्र पालन में तथा परिणामों में शुद्धि होती है तथा मान आदि कषाएँ घटती हैं।

(४) 'उत्सर्ग'—शरीर से ममत्व का त्याग करना, अहंकार (अपने से भिन्न स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना) तथा ममकार (शरीर, इन्द्रियाँ आदि को अपना मानना) का त्याग करना, अन्तरंग क्रोधादि का तथा बाह्य परिग्रह का त्याग करना 'उत्सर्ग तप' है। इससे ममत्व/मोह भाव का नाश होता है तथा निर्भयता प्रकट होती है।

(५) 'स्वाध्याय'—ज्ञानभाव में आलस्य न करना, शास्त्रों का स्वाध्याय करना, उनका सीखना, दूसरों को सिखाना, विचार—मनन करना, बार-बार शुद्ध उच्चारण करना 'स्वाध्याय तप' है। जहाँ संशय हो वहाँ अन्य ज्ञानी जनों से उसका निवारण करना चाहिए। स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण होता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति

होती है, संसार से वैराग्य होता है, वास्तविक धर्म का बोध तथा वृद्धि होती है। अज्ञान अन्धकार का नाश होता है। स्वाध्याय परम तप है।

(६) 'ध्यान'—समस्त आरम्भ तथा परिग्रह से मुक्त होकर, अन्य समस्त विषयों से चित्त को रोककर मन की एकाग्रतापूर्वक पंच-परमेष्ठी अथवा आत्मा का ध्यान/चिन्तन करना 'ध्यान तप' है। प्रशस्त राग पूर्वक पंचपरमेष्ठी का ध्यान, उनके गुणों का चिन्तन शुभध्यान है तथा शुद्धात्मस्वरूप में एकाग्रता होना शुद्ध ध्यान है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान अशुभ ध्यान हैं तथा नरक और तिर्यंच गति के कारण हैं। जो धर्मध्यान शुद्धतायुक्त है वह शुभ ध्यान है तथा परम्परा से मोक्ष का करण है। शुक्लध्यान शुद्धध्यान होने से साक्षात् मोक्ष का कारण है। ध्यान से चारित्र की पूर्णता प्राप्त होती है तथा मन, वचन, और काय वश में होते हैं, पुण्य बन्ध होता है तथा कर्मों की निर्जरा होती है।

जैसे अग्नि सोने को शुद्ध बनाती है, वैसे ही बाह्य और अन्तरंग तप आत्मा को शुद्ध करते हैं। तप के विना चारित्र नहीं होता और चारित्र विना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अतः यथाशक्ति तप अवश्य करना चाहिए। यहाँ तक गृहस्थ के व्रतों का वर्णन किया। आगे मुनि-धर्म का उपदेश देते हैं।

मुनिव्रत धारण करने का उपदेश—

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥

॥७-४-२००॥

अन्वयार्थ—(**जिनपुङ्गवप्रवचने**) जिनेश्वरों के सिद्धान्त में (**मुनीश्वराणां**) मुनीश्वरों का (**यत्**) जो (**आचरणम्**) आचरण (**उक्तम्**)

कहा है (एतत्) यह (अपि) भी गृहस्थों को (निजां) अपने (पदवीं) पद (च) और (शक्ति) शक्ति का (सुनिरूप्य) भली प्रकार विचार करके (निषेव्यम्) सेवन करना चाहिये।

अर्थ—जिनेश्वरों के सिद्धान्त में मुनीश्वरों का जो आचरण कहा है, यह भी गृहस्थों को अपने पद और शक्ति का भली प्रकार विचार करके सेवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—इस ग्रन्थ में श्रावकाचार/गृहस्थाचार का मुख्यता से वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत मुनियों के क्रियाकाण्ड का भी वर्णन है, वह श्रावकों/गृहस्थों के प्रयोजन से ही किया गया है। श्रावकों को भी अपनी शक्ति तथा पद के अनुसार यथायोग्य इसका आचरण करना चाहिये। अगर संभव हो सके तो अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक श्रावक को मुनिपद के महाव्रत ग्रहण करने चाहियें। अगर महाव्रत का पालन किसी तरह भी संभव न बन सके तो अणुव्रत का पालन करे तथा तत्पश्चात् महाव्रत अवश्य अंगीकार करे। वास्तव में चारित्र तो एकरूप ही है, जिसका पूर्णतया पालन मुनिराज करते हैं तथा श्रावक उसका एकदेश पालन करते हैं। मुनिराज का जो आचरण श्रावकों को पालना चाहिए, उसका आगे के श्लोकों में वर्णन करेंगे।

छह आवश्यकों का वर्णन—

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्।
॥ ७-५-२०१ ॥

अन्वयार्थ—(**समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्**) समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण (**प्रत्याख्यानं**) प्रत्याख्यान (**च**) और (**वपुषो व्युत्सर्गः**) कायोत्सर्ग (**इति**) इस तरह (**इदम्**) यह (**आवश्यकषट्कं**) छह आवश्यक (**कर्त्तव्यम्**) करने चाहियें।

अर्थ—समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इस तरह ये छह आवश्यक करने चाहियें।

विशेषार्थ—यहाँ छह आवश्यकों का वर्णन है। मुनि तथा श्रावक दोनों को इनका प्रतिदिन पालन करना चाहिये इसलिये इन्हें 'आवश्यक' कहा है। अथवा जो राग, द्वेष आदि के वशीभूत न हो वह 'अवश' है, उस अवश का जो आचरण है वह 'आवश्यक' कहलाता है। मुनियों को इनका सर्वदेश तथा श्रावक को अपनी शक्ति तथा योग्यतानुसार पालन करना चाहिए। समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा व्युत्सर्ग—ये छह आवश्यक क्रिया हैं।

(१) 'समता'—राग-द्वेष रहित साम्यभाव रखना, सब जीवों को अपने समान जानना तथा उन पर समता भाव रखना, किसी में राग-द्वेष नहीं करना अथवा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, इष्टवियोग, अनिष्टयोग आदि में समभाव रखना समता अथवा सामायिक है।

(२) 'स्तव'—अरहन्त/तीर्थंकर भगवान के गुणों का कीर्तन, स्तुति अथवा गुणगान करना स्तव है। अरहन्त इत्यादि को पूज्य मानकर वचन द्वारा बारम्बार उनकी स्तुति करना 'व्यवहार स्तव' है। जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध चैतन्य गुणों के धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियों से रहित निज आत्मा की स्तुति करता है वह 'निश्चय स्तव' है।

(३) 'वन्दना'—पंचपरमेष्ठी इत्यादि को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से साष्टांग नमस्कार करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना अथवा चार शिरोनति तथा बारह आवर्त पूर्वक नमस्कार करना 'व्यवहार वन्दना' है। जो पुरुष निर्मल दर्शन-ज्ञान और चारित्र स्वरूप अपनी उत्तम आत्मा की वन्दना करता है वही उत्तम 'निश्चय वन्दना' है।

(४) 'प्रतिक्रमण'—प्रमाद के कारण पूर्व में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिए पश्चाताप करना अथवा गुरु के समीप जाकर दोष

स्वीकार करना, 'मेरे अपराध मिथ्या हों'—ऐसा कहकर पश्चाताप करना 'व्यवहार प्रतिक्रमण' है। वचन रचना को छोड़कर रागादि भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है उसे जो प्रतिक्रमण होता है, वही 'निश्चय प्रतिक्रमण' है।

(५) 'प्रत्याख्यान'—आगामी कर्मास्रव का निरोध—संवर करना अथवा रत्नत्रय में विघ्न उत्पन्न करने वाले कारणों को मन, वचन, काय से रोकना तथा उनका त्याग करना 'व्यवहार प्रत्याख्यान' है। भविष्यत् काल का शुभाशुभ कर्म जिन भावों से बँधता है, उन भावों से जो आत्मा निवृत्त होता है वह आत्मा प्रत्याख्यान है वही 'निश्चय प्रत्याख्यान' है।

(६) 'व्युत्सर्ग'—काय का त्याग अर्थात् शरीर से ममत्व छोड़कर एक आसन पूर्वक ध्यान करना व्युत्सर्ग है। इसे कायोत्सर्ग भी कहते हैं। कायोत्सर्ग के समय शरीर पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल होना चाहिये और अनेक कारण उपस्थित होने पर भी चलायमान नहीं होना चाहिये।

उपर्युक्त षट् आवश्यक मुनि के आवश्यक कर्त्तव्य हैं। इनके बिना मुनि पद नहीं बनता। जिसके इष्टानिष्ट विषयों में राग-द्वेष है, समताभाव नहीं है, वह भी मुनि कहलाने का अधिकारी नहीं। मुनि के लिये दो ही मार्ग हैं एक शुद्धोपयोग और दूसरा शुभोपयोग। निज-शुद्धात्म स्वरूप की आराधना शुद्धोपयोग है तथा पंचपरमेष्ठी की भक्ति-स्तुति तथा स्वाध्याय इत्यादि शुभोपयोग है। ये षट् आवश्यक विशेष रूप से मुनि के लिये कहे हैं, परन्तु यथाशक्ति श्रावक को भी इनका पालन अवश्य करना चाहिये।

तीन गुप्तियों का वर्णन—

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्॥
॥७-६-२०२॥

अन्वयार्थ—(**वपुषः**) शरीर को (**सम्यग्दण्डः**) भली प्रकार—शास्त्रोक्त विधि से वश करना (**तथा**) तथा (**वचनस्य**) वचन का (**सम्यग्दण्डः**) भली प्रकार अवरोधन करना (**च**) और (**मनसः**) मन का (**सम्यग्दण्डः**) सम्यक् रूप से निरोध करना—इस प्रकार (**त्रितयं गुप्तीनां**) तीन गुप्तियों को (**अवगम्यम्**) जानना चाहिये।

अर्थ—शरीर को भली प्रकार शास्त्रोक्त विधि से वश करना, तथा वचन का भली प्रकार अवरोधन करना और मन का सम्यक्रूप से निरोध करना—इस प्रकार तीन गुप्तियों को जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गुप्ति के तीन भेद हैं—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनगुप्ति। 'गुप्ति' का अर्थ है—गोपन करना अथवा छिपाना। 'सम्यग-दण्ड' का अर्थ है स्वच्छन्द प्रवृत्ति को भली प्रकार रोकना—वश में करना। मन, वचन और काय—इन तीनों योगों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को भली प्रकार रोकना, उनसे गुप्त होना त्रिगुप्ति है अथवा मन, वचन और काय की प्रवृत्ति का निरोध करके ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव मात्र में निश्चय समाधि धारण करना गुप्ति है।

(१) 'कायगुप्ति'—बन्धन, छेदन, मारण इत्यादि का अथवा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का, या चोरी इत्यादि पाप क्रिया का तथा अन्य भी शरीर-सम्बन्धी क्रियाओं को भली प्रकार रोकना 'कायगुप्ति' है।

(२) 'वचनगुप्ति'—पाप के वचन न बोलना, समस्त असत्य का परिहार करना अथवा वचनों की प्रवृत्ति का त्याग करना, मौन धारण करना 'वचनगुप्ति' है।

(३) 'मनगुप्ति'—मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों का परि-हार करना अथवा समस्त संकल्प-विकल्प छोड़कर मन की चञ्चलता को रोक कर एकाग्र होना 'मनोगुप्ति' है। गुप्तियों के विना सम्यक्-चारित्र की प्राप्ति संभव नहीं। जहाँ तीनों गुप्तियों की एकता है वहाँ आत्मध्यान की उत्कृष्टता है, जो कि संवर और मोक्ष का मुख्य साधन है।

पाँच समितियों का स्वरूप—

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥
॥ ७-७-२०३ ॥

अन्वयार्थ—(**सम्यग्गमनागमनं**) सावधानी से देख-भाल कर जाना-आना (**सम्यग्भाषा**) उत्तम हित-मित रूप वचन बोलना (**सम्यक् एषणा**) योग्य आहार का ग्रहण करना (**सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ**) पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण करना और यत्नपूर्वक रखना (**तथा**) और (**सम्यग्व्युत्सर्गः**) प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना—(**इति**) इस प्रकार ये पाँच (**समितिः**) समितियाँ हैं ।

अर्थ—सावधानी से देख-भाल कर जाना-आना, उत्तम हितमित वचन बोलना, योग्य आहार का ग्रहण करना, पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण करना तथा यत्नपूर्वक रखना और प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना—इस प्रकार ये पाँच समितियाँ हैं ।

विशेषार्थ—'समिति' का **अर्थ** है किसी भी कार्य में भली प्रकार परिणति—कार्यरत होना । यहाँ सम्यग्गमनागमन, सम्यग्भाषा, सम्यग्एषणा, सम्यग्ग्रह-निक्षेप तथा सम्यग्व्युत्सर्ग—इन पाँच समितियों का वर्णन है ।

(१) 'सम्यग्गमनागमन/ईर्यासमिति'—दिन के समय जब सूर्य का उजाला हो जाए, स्पष्ट दिखने लगे तब घोड़ा-गाड़ी इत्यादि के चलने से प्रासुक हुए मार्ग पर चार हाथ आगे देखकर तथा पैरों को देख-देखकर रखते हुये गमनागमन करना चाहिये जिससे किसी जीव की पैरों के नीचे दबकर विराधना न हो । मुनि तथा श्रावक की इस क्रिया को 'ईर्यासमिति' कहते हैं ।

(२) 'सम्यग्भाषा/भाषा समिति'—हितमित—जीवों का हित करने वाले मधुर वचन बोलना, जिन वचनों में सन्देह उत्पन्न न हो—ऐसे वचन बोलना, कटु, कठोर, निष्ठुर वचन न बोलना, झूठे वचन न बोलना 'भाषा समिति' है ।

(३) 'सम्यग्एषणा/एषणा समिति'—छियालीस दोष तथा बत्तीस अन्तराय टालकर/बचाकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर विधिपूर्वक देख-भाल कर एक बार शुद्ध-प्रासुक आहार ग्रहण करना 'एषणा समिति' है।

(४) 'सम्यग्ग्रहनिक्षेप/आदान निक्षेपण समिति—यत्नाचारपूर्वक अच्छी तरह देखकर तथा पीछी इत्यादि से पोंछकर शास्त्र, कमण्डलु अथवा अन्य और भी उपकरण उठाना तथा रखना 'आदाननिक्षेपण समिति' है। विना देखे तथा विना पोंछे किसी भी वस्तु को उठाना या रखना नहीं चाहिये, इससे जीवों का घात होता है।

(५) 'सम्यग्व्युत्सर्ग/प्रतिष्ठापन समिति'—यत्नाचारपूर्वक अच्छी तरह देखकर और पीछी से झाड़कर जीवरहित भूमि पर मल-मूत्र तथा कफ इत्यादि का त्याग करना चाहिये। गीली भूमि पर, जल में हरी घास इत्यादि जीवसहित भूमि पर मल-मूत्र इत्यादि का त्याग नहीं करना चाहिये। इन क्रियाओं के पालन को 'प्रतिष्ठापन समिति' कहते हैं।

उपर्युक्त पाँच समितियों का पालन तो मुनिराज पूर्ण रूप से करते हैं, परन्तु श्रावक को भी यथाशक्ति यत्नाचारपूर्वक इनका यथायोग्य ज्यादा से ज्यादा पालन करना चाहिये।

दस धर्मों का वर्णन—

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति॥
॥ ७-८-२०४ ॥

अन्वयार्थ—(क्षान्तिः) क्षमा (मृदुत्वम्) मार्दव (ऋजुता) आर्जव (च) और (शौचम्) शौच (च) और (अथ) उसके बाद (सत्यम्) सत्य (च) और (आकिञ्चन्यं) आकिञ्चन्य (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य (च) और (त्यागः) त्याग (तपः) तप (च) और (संयमः) संयम—

(इति) इस प्रकार (धर्मः) दस प्रकार का धर्म (सेव्यः) सेवन करना चाहिये।

अर्थ--क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच और उसके बाद सत्य और आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य और त्याग, तप और संयम—इस प्रकार दस प्रकार का धर्म सेवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—धर्म तो मूल में एक ही है, परन्तु परिभाषाएँ अनेक हैं। वस्तु का स्वभाव धर्म है। चारित्र ही धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। पंचपरमेष्ठी आदि की भक्ति करना तथा आहार आदि देना व्यवहार धर्म है। रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में रत होना निश्चय धर्म है। जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम इष्ट स्थान—मोक्ष/स्वर्ग प्रदान करे वह धर्म है। धर्म कर्मों का विनाशक है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन तथा उत्तम ब्रह्म-चर्य उसके दस भेद हैं। यह दस धर्म मुनि तथा श्रावक को पालने चाहियें। मुनिराज तो इनका पूर्णतया पालन करते हैं, परन्तु श्रावक को भी अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार इनका पालन करना चाहिये। दशधर्म का पालन मोक्ष के साधन में मुख्य कारण है।

(१) 'उत्तम क्षमा'—क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण करना अथवा क्रोध के कारण उत्पन्न होने पर भी आत्मा में तिल-तुष मात्र कलुषता न लाना 'उत्तम क्षमा' है।

(२) 'उत्तम मार्दव'—मान कषाय का त्याग करके कोमलता, मृदुता, विनयभाव धारण करना अथवा अहं बुद्धि का त्याग करना 'उत्तम मार्दव' है।

(३) 'उत्तम आर्जव'—मायाचार का त्याग करके सरलता धारण करना अथवा योगों की सरलता, एकरूपता, ऋजुता 'उत्तम आर्जव' है।

(४) 'उत्तम शौच'—लोभ का त्याग करके सन्तोष धारण करना अथवा अन्तरंग में लोभकषाय के अभाव में उत्पन्न होने वाली शुचिता, पवित्रता या शुद्धि 'उत्तम शौच' है। अन्तरंग शुद्धि और बाह्य शुद्धि के भेद से शुद्धि दो प्रकार की है। शरीर की शुद्धि बाह्य शुद्धि है तथा लोभ कषाय का त्याग करना अन्तरंग शुद्धि है। मुनिराज तो अन्तरंग शुद्धि पालते हैं, परन्तु श्रावक को यथाशक्ति दोनों शुद्धियाँ पालनी चाहिए।

(५) 'उत्तम सत्य'—जिनसे दूसरे जीवों को दुःख उत्पन्न हो ऐसे झूठे, निन्दनीय, कपटी तथा कठोर वचन नहीं बोलना अथवा कषायों का अभाव करके आत्मसत्य को प्राप्त करना 'उत्तम सत्य' है। यह सम्यक्चारित्र की पर्याय है। श्रावक को भी यथाशक्ति उत्तम सत्य धर्म को पालना चाहिए।

(६) 'उत्तम संयम'—पाँचों इन्द्रियों तथा मन के विषयों को रोकना, वश में करना तथा पाँच स्थावर तथा त्रस –इस प्रकार छह प्रकार के जीवों की हिंसा न करना संयम है। मन, वचन और काय को वश में करने से, कषायों का निग्रह करने से, पाँच समितियों के पालन से तथा व्रतों का पालन करने से उत्तम संयम होता है अथवा उपयोग को बाह्य पदार्थों से हटाकर आत्मा में स्थिर करना उत्तम संयम है।

(७) 'उत्तम तप'—इच्छानिरोधस्तपः'—इच्छाओं का निरोध तप है। जो कर्मों की निर्जरा या पापकर्म के नाश के लिये तपा जाता है वह तप है। निजचैतन्य स्वभाव के प्रताप में तपना तप है। आत्मा को, आत्मा में, आत्मा से धारण करना उत्तम तप है। अन्तरंग और बहिरंग के भेद से तप के बारह भेद हैं।

(८) 'उत्तम त्याग'—आहार, औषध, अभय और ज्ञान दान आदि देना व्यवहार त्याग धर्म है। वास्तव में तो आत्मा के विकारी भावों का तथा समस्त कषायों का त्याग करना और निजशुद्धात्मा के ग्रहण पूर्वक बाह्य और अन्तरंग समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह के प्रति मूर्च्छा—ममत्व भाव से निवृत्ति ही उत्तम त्याग है।

(९) 'उत्तम आकिञ्चन्य'—जिसका कुछ नहीं वह अकिञ्चन है। 'मेरा कुछ नहीं, मेरे दर्शन-ज्ञान इत्यादि गुण ही मेरे हैं'—ऐसा अन्तरंग परिणाम रखना, तीन लोक के समस्त पदार्थों से ममत्व भाव छोड़कर संसार, शरीर और भोगों से उदासीन परिणाम रखते हुए, समस्त कषायों को हटाकर निजशुद्धात्मस्वरूप में लीन होना, वही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है।

(१०) 'उत्तम ब्रह्मचर्य'—निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वरूप निजशुद्धात्मा में रमण करना, विचरण करना ब्रह्मचर्य है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध सुख से विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक शक्तियों का आत्मविकास के सन्मुख करना, अपनी आत्मा में लीन होना उत्तम ब्रह्मचर्य है। ऐसा त्याग केवल मुनिराज ही कर सकते हैं। श्रावक जब तक मन, वचन, काय से 'स्त्री' मात्र का त्यागी न हो जाए तब तक उसे एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन करके स्व-स्त्री में सन्तोष रखना चाहिये तथा सभी स्त्रियों का मन, वचन तथा काय से त्याग करना चाहिये।

बारह भावनाओं का वर्णन—

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः॥
॥ ७-९-२०५ ॥

अन्वयार्थ—(**अध्रुवम्**) अध्रुव (**अशरणम्**) अशरण (**एकत्वम्**) एकत्व (**अन्यता**) अन्यत्व (**अशौचम्**) अशुचि (**आस्रवः**) आस्रव (**जन्म**) संसार (**लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः**) लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा—इन बारह भावनाओं का (**सततम्**) निरन्तर (**अनुप्रेक्ष्याः**) पुनः पुनः चिन्तन और मनन करना चाहिए।

अर्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संसार, लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर और निर्जरा—इन बारह भावनाओं का निरन्तर पुनः पुनः मनन और चिन्तन करना चाहिए।

विशेषार्थ—बारह भावना को बारह अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। 'अनुप्रेक्षा' का अर्थ है तत्त्वों का तथा संसार के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना। मोक्षाभिलाषी जीवों को इनका प्रतिदिन चिन्तन करना चाहिए। इनका चिन्तन वैराग्य, कर्मक्षय तथा वीतरागता का कारण होता है। अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन तो विकल्प रूप है, पर उस विषय में आत्मा की एकाग्रता धर्मध्यान है। बारह भावनाओं का क्रम और स्वरूप इस प्रकार है—

(१) 'अनित्य भावना'—संसार की समस्त सम्पदा, शरीर तथा इन्द्रिय भोगादि सभी संयोगी पदार्थ हैं, कर्मजनित हैं अतः पानी के बुलबुले के समान नाशवान हैं। संयोग स्वभाव से ही क्षणभंगुर तथा विनाशीक हैं, उनका स्थायी रहना असंभव है। स्त्री-पुत्र, माता-पिता, धन-सम्पदा, शरीर तथा भोगोपभोगादि से संयोग सम्बन्ध हैं और जहाँ संयोग है वहाँ वियोग नियम से होता है। जो उत्पन्न हुआ है उसका नियम से नाश होगा। अपनी आत्मा ही शाश्वत है, नित्य है अथवा ध्रुव है। संसार के विनाशीक, अध्रुव क्षणभंगुर पदार्थों में से प्रीति हटाकर अपने शुद्धात्म स्वरूप में लीन होना ही अनित्य भावना है। इसका चिन्तन सभी के लिये उपयोगी तथा शान्तिदायक है।

(२) 'अशरण भावना'—अनित्य भावना में संयोगों और पर्यायों के अनित्य स्वभाव का चिन्तन है, परन्तु अशरण भावना में इन्हीं संयोगी पदार्थों के अशरण स्वभाव का चिन्तन है। इस संसार में कोई किसी का शरण नहीं अर्थात् कोई भी प्राणी किसी को नहीं बचा सकता। सभी काल के अधीन हैं। मरण काल आने पर स्त्री-पुत्र, माता-पिता आदि परिवारीजन, देवी-देवता तथा सेना आदि कोई नहीं बचा सकता। और की तो बिसात ही क्या है, तीर्थंकर भगवान में भी काल को टाल देने की शक्ति नहीं है। काल को पलमात्र भी नहीं रोका जा सकता। जिस प्रकार जंगल में फिरते मृग को शेर दबोच लेता है, उस समय उसे कोई नहीं छुड़ा सकता, इसी प्रकार मरते समय देवता, असुर तथा विद्याधर आदि शक्तिशाली जीव तथा मणि, मन्त्र-तन्त्र, औषधि इत्यादि भी जीव को नहीं बचा सकते।

जो काल से स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सके, वह दूसरे की रक्षा कैसे कर सकते हैं। इसलिये किसी की शरण नहीं जाना चाहिए। व्यवहारनय से पंचपरमेष्ठी तथा जैन धर्म ही शरण हैं। परन्तु निश्चयनय से तो अपना शुद्धात्मा ही शरण है, अन्य कोई नहीं। वास्तव में देखा जाए तो मृत्यु से बचाने में न तो पंचपरमेष्ठी शरण हैं और न ही निजशुद्धात्मा। इनकी शरण कहने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि मरते समय इनकी शरण अर्थात् चिन्तन से जो आकुल-व्याकुल न होकर सुखपूर्ण प्राण त्यागता है। इस प्रकार का चिन्तन करना अशरण भावना है।

(३) 'संसार भावना'—संसार भावना में चारों गतियों के दुःखों का चिन्तन है। यह संसार महान दुःख रूप है। यदि कहीं सुख होता तो तीर्थंकरों जैसे पुण्यवान् महापुरुष इसे क्यों छोड़ते। चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं। नरकगति के छेदन, भेदन, ताड़न, तापन इत्यादिक का वर्णन मात्र शरीर में कंपन उत्पन्न पैदा कर देता है। तिर्यंच गति के भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, अतिभारारोपण तथा वध-बन्धन इत्यादि दुःख प्रत्यक्ष ही देखने में आते हैं। मनुष्यगति में भी अनेक चिन्ताएँ तथा दुःख हैं। रोग, शोक, इष्ट-वियोग, जन्म-जरा और मरण के अनेक दुःख हैं। निर्धन धन के अभाव में दुःखी है, एक समय की रोटी भी नहीं जुटा पाता। धनवान् भी कहाँ सुखी है, वह भी तृष्णा वश दुःखी है। गोली खाये विना न अन्न पाचन होता है और न ही नींद आती है। कोई सन्तानहीन होने से दुःखी है तो कोई व्यसनी सन्तान के कारण दुःखी है। देवगति में विषयवासना, बड़े देवों की ऋद्धि, देवांगनाओं के वियोग जनित अनेक दुःख हैं। मरण समय निकट जान मोहवश अत्यन्त दुःखी होकर नीच गति की प्राप्ति करते हैं। वास्तविक सुख तो पंचमगति—मोक्ष में ही है। इस प्रकार संसार भावना चतुर्गति रूप संसार से उदासीन करती है।

(४) 'एकत्व भावना'—जीव जन्म से मरण तक हर समय प्रत्येक स्थिति में अकेला ही है, दूसरा उसका कोई साथ नहीं देता और न ही साथ दे सकता है। जीव ने अज्ञानवश अन्य को अपना मान रखा

है। जीव सदा अकेला ही है। अकेला जन्म लेता, अकेला मरता है और अकेला ही दुःख-सुख को भोगता है। अकेला पाप कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। मोक्ष भी अकेला ही प्राप्त करता है। त्रिकाल जीव तो अकेला ही है। ऐसा चिन्तन एकत्व भावना है।

(५) 'अन्यत्व भावना'—आत्मा और शरीर आदि अनेक संयोगों की भिन्नता का चिन्तन करना अन्यत्व भावना है। अनादि काल से शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, परन्तु फिर भी शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं। संसार के समस्त पदार्थ ही जुदा-जुदा हैं। कोई पदार्थ अन्य किसी पदार्थ में मिला हुआ नहीं है। एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से एक होने का भ्रम उत्पन्न होता है। जब यह शरीर जिसमें यह जीव नित्य रहता है, वही अपना नहीं है, तो प्रकट रूप से ही भिन्न स्त्री-पुत्र, धन-सम्पदा इत्यादि एक कैसे हो सकते हैं। जीव का स्वरूप शरीर से सर्वथा भिन्न है। जीव चैतन्य ज्योति स्वरूपी है। उपयोग को समस्त पर-वस्तुओं से हटाकर, समस्त विकल्पों को छोड़कर, इनसे सर्वथा भिन्न अपने शुद्धात्म स्वरूप में लगाये रहना अन्यत्व भावना है।

(६) 'अशुचि भावना'—जिस शरीर को अपना मानकर हम उसमें रच-पच रहे हैं, उसका पोषण कर रहे हैं, नाना अलंकारों से उसे सजा रहे हैं, सुगन्धित पदार्थों से उसका लेपन कर रहे हैं, जिसमें हमारा भगवान् आत्मा भी रहता है, उस शरीर की क्या स्थिति है? —यह शरीर महान अशुचि रूप है। अतिदुर्गन्धमय तथा अपवित्रता की खान है। कफ, चर्बी, मांस, खून-पीपादि मल की थैली है। इसके आँख, कान, नाक, मुंह इत्यादि नौ द्वारों से घिनौना मल बहता रहता है। चमड़े की चादर में लिपटा यह शरीर सात धातुओं से भरा पड़ा है। यदि इस चादर को हटा दिया जाए तो चील-कौआ इत्यादि हिंसक प्राणियों से इसकी रक्षा करना असंभव है। यह शरीर सागरों के जल से धोने तथा इत्र फुलेल के लेपन करने से भी पवित्र नहीं हो सकता। इसके अनुराग अथवा ममत्वभाव में यह दुर्लभ मनुष्य जीवन गँवाना उचित नहीं। इस देह से अत्यन्त भिन्न अपने परम-

पवित्र शुद्ध भगवान् आत्मा का ध्यान, आराधना तथा साधना करना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। ऐसा चिन्तन करना अशुचि भावना है।

(७) 'आस्रव भावना'—पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय तथा पन्द्रह योग—ये आस्रव के सत्तावन भेद हैं। कर्मास्रव से बचने के लिये इनको भली प्रकार जानना चाहिये। मिथ्यात्व के एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व तथा अज्ञान मिथ्यात्व—ऐसे पाँच भेद हैं। एक नय का हठ ग्रहण करना 'एकान्त मिथ्यात्व' है। अधर्म को धर्म मानना 'विपरीत मिथ्यात्व' है। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु सब का विनय करना 'विनय मिथ्यात्व' है। जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में सन्देह करना 'संशय मिथ्यात्व' है। हिताहित की परीक्षा रहित अयोग्य कार्य करना 'अज्ञान मिथ्यात्व' है। पांच इन्द्रियों तथा मन—इन छह का संयम न करना तथा पाँच स्थावर तथा त्रस—इन छह काय के जीवों की रक्षा हेतु दया भाव न होना—ये बारह अविरति हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के प्रत्येक के चार-चार भेद होने से सोलह कषाय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुँसकवेद तथा नपुँसक वेद—ये नौ नोकषाय—ये सब मिलकर पच्चीस कषाय हैं। चार वचन योग—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचन-योग, अनुभय वचनयोग, चार मनोयोग—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग तथा सात काययोग—औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग—ये पन्द्रह योग हैं। इन सत्तावन आस्रव द्वारों से ही शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता है। शुभ भाव से शुभ आस्रव तथा अशुभ भाव से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। आस्रव भाव आत्मस्वभाव से भिन्न हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं तथा दुःख रूप हैं—ऐसा समझकर शुद्धभाव द्वारा कर्मों का संवर करना चाहिये। शुभा-स्रव—पुण्यास्रव अथवा अशुभास्रव—पापास्रव, दोनों ही आस्रवों का त्यागना आवश्यक है। आस्रव भाव उत्पन्न तो आत्मा में ही होता है,

परन्तु आत्मस्वभाव से भिन्न है। अतः समस्त आस्रवों की संतति से विरक्त होकर आत्मस्वभाव में अनुरक्त होना आस्रव भावना है। यह ध्यान रहे कि आस्रव भावना आस्रव तत्त्व नहीं है, बल्कि संवर-तत्त्व है।

(८) 'संवर भावना'—आस्रव का निरोध संवर है। वह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशधर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय तथा पाँच प्रकार के चारित्र से होता है। व्यवहार से उपर्युक्त समिति संवर भावना हैं, परन्तु निश्चयनय से तो ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य से अपने को मन, वचन, काय से हटाकर निजशुद्धात्म स्वरूप में स्थिर करना ही संवर है। संवर ही संसार से छुड़ाने वाला और मोक्ष ले जाने वाला है। सभी प्राणियों को इसका पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिये।

(९) 'निर्जरा भावना'—कर्मबन्ध के प्रदेशों का गलना निर्जरा है। शुभाशुभ भावों के निरोध रूप संवर तथा शुद्धोपयोग से युक्त जो जीव नाना प्रकार के तप करता है, वह निश्चय ही अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है। शुद्धोपयोग रूप आत्मध्यान की निरन्तर वृद्धि करना ही भाव निर्जरा है तथा द्रव्यनिर्जरा का मूल है। निर्जरा दो प्रकार की है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा तो ज्ञानी-अज्ञानी जीवों के सदा हुआ ही करती है, परन्तु अविपाक निर्जरा तो शुद्धभाव रूप तप आदि करने से ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जीव के ही होती है तथा उद्यमपूर्वक की जाती है। अविपाक निर्जरा के विना कोई भी जीव इस संसार से मुक्त नहीं हो सकता। अतः मुमुक्षु जीवों को अविपाक निर्जरा का उपाय अवश्य करना चाहिये। इसी का चिन्तन बार-बार करना निर्जरा भावना है।

(१०) 'लोक भावना'—लोक के तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इन तीनो लोकों का विस्तार-प्रसार तीन सौ तेतालीस घनराजू है। यह चौदह राजू ऊँचा लोक अनादि निधन, अविनाशी तथा स्वयं सिद्ध है। अनन्त आकाश के मध्य में स्थित

लोकाकाश षट्द्रव्यात्मक है। अधोलोक में सातवें नरक से नीचे एक राजू तक निगोद है जहाँ स्थावर जीव रहते हैं। वहाँ त्रस जीवों का निवास नहीं है। शेष छह राजू में सात नरक हैं जिनके निवासी छेदन, भेदन, मारण, तापन इत्यादि महादुःखों को सदा भोगते हैं। इन नरकों के ऊपर भवनवासी तथा व्यन्तर देवों के निवास हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनमें ढाई द्वीप और दो समुद्रों में मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्य लोक है अर्थात् यहीं तक मनुष्य पाये जाते हैं, इसके बाहर नहीं। व्यन्तर देव, भवनवासी देव और ज्योतिषी देव तथा तिर्यंच समस्त मध्य लोक में है। जलचर पंचेन्द्रिय तथा विकलत्रय (दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव) तिर्यंच तो ढाईद्वीप तथा अन्त के स्वयंभूरमण द्वीप के आधे तथा स्वयंभूरमण समुद्र के सारे भाग में है। शेष समुद्रों में विकलत्रय जीव नहीं हैं। जलचर जीव लवणोदधि तथा स्वयंभूरमण—इन तीन समुद्रों में हैं, अन्य स्थानों में नहीं हैं। इस प्रकार मध्यलोक की और भी रचनाएँ और विस्तार हैं। सुमेरु पर्वत की चोटी तक एक लाख योजन ऊँचा मध्यलोक है। ज्योतिषचक्र (चन्द्र, सूर्य, तारे, नक्षत्र इत्यादि) सात सौ नब्बे योजन से लेकर नौ सौ योजन तक है। मध्य-लोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जहाँ स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नवअनुदिश, तथा पाँच अनुत्तर हैं। नवग्रैवेयक, नवअनुदिश तथा पंचानुत्तर के समस्त देव ब्रह्मचारी हैं। स्वर्गलोक में स्वर्गवासी तथा पाँच स्थावर ही हैं, अन्य त्रस जीव नहीं हैं। अन्तिम अनुत्तर सर्वार्थसिद्धि से ऊपर सिद्धलोक है जहाँ अनन्तानन्त सिद्ध जीव विराजमान हैं। इन तीनों लोकों की चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में यह जीव अनादि काल से अपने शुद्ध स्वभाव को भूलकर भ्रमण कर रहा है। इस प्रकार लोक को जानकर उससे दृष्टि हटाकर निजशुद्धात्म स्वरूप में स्थित होना लोकभावना है। इस लोक में एक शुद्धात्मा ही सार है, शेष सब कुछ असार है।

(११) 'बोधि दुर्लभ'—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को 'बोधि' कहते हैं। उसकी प्राप्ति अति दुर्लभ होने से इस भावना का नाम 'बोधिदुर्लभ' है। स्थावर जीवों से यह लोक ठसाठस भरा पड़ा है।

निगोद राशि से व्यवहार राशि (चतुर्गति) में आना अति दुर्लभ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति—इन स्थावर जीवों से निकलकर त्रस जीवों में उत्पन्न होना दुर्लभ है। दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तथा चार इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय असंज्ञी जीवों में उत्पत्ति अतिदुर्लभ है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है। संज्ञी पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य गति पाना दुर्लभ है। मनुष्यों में भी आर्यखण्ड, उत्तम कुल, दीर्घायु, धर्मरुचि पाना अति दुर्लभ है। यह सब भी हुआ तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तथा श्रावक के व्रत धारण करना दुर्लभ है। श्रावक के व्रतों के पश्चात् मुनि के व्रत धारण करना और भी दुर्लभ है तथा मुनिव्रतों में भी शुद्धोपयोग की दशा प्राप्त करना महान दुर्लभ है। इस संसार में सोना-चाँदी, धन-धान्य तथा राजसुख इत्यादि तो फिर भी सुलभ है परन्तु यथार्थ ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करना तो महान दुर्लभ है। केवलज्ञान की प्राप्ति के बिना जीव को मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिये आचार्यश्री प्रेरणा देते हैं कि हे भव्यजीव ! तू नरभव को रागद्वेष तथा विषय भोगों में मत गँवा। यदि तुझे वास्तव में सुख चाहिये तो शीघ्र ही घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर। अपना स्वभाव तो अपने अन्दर है, कहीं से लाना नहीं, फिर उस स्वभाव/स्वरूप की प्राप्ति को दुर्लभ क्यों मानें। वह तो अपने अधीन है। पर-वस्तु की प्राप्ति अपने अधीन नहीं, अतः वह दुर्लभ है। यह जीव अनादिकालीन अज्ञान के कारण दुर्लभ के पीछे उसकी प्राप्ति के लिये भाग रहा है। अपनी सुलभ वस्तु के प्रति लक्ष्य नहीं। ऐसा चिन्तन बोधि दुर्लभ भावना है।

(१२) 'धर्म भावना'—जीव को सुख देने वाला वास्तव में धर्म ही है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म हैं। जो नरक तिर्यंच आदि गतियों से निकाल कर आत्मा को अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्ष सुख में रखता है वह धर्म है। कल्पवृक्ष संकल्प करनेपर, चिन्तामणि रत्न चिन्तन करने पर फल देता है, किन्तु धर्म तो बिना मांगे व बिना चिन्तन किये ही उत्तम अनन्त सुख-शान्ति रूप फल देता है। जब यह आत्मा अपने शुद्ध-

ज्ञान—दर्शन स्वरूप धर्म (स्वभाव) में परिणमन करता है तभी अनन्त सुख-शान्ति को पा सकता है। जब तक शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता नहीं होती तब तक यह जीव संसार से नहीं छूटता। अपने शुद्धात्म स्वरूप धर्म को प्राप्त करने का चिन्तन ही धर्म भावना है।

बाईस परीषहों का वर्णन—

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनाऽरतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥
॥७-१०-२०६॥

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥
॥७-११-२०७॥

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥
॥७-१२-२०८॥

अन्वयार्थ—(**संक्लेशमुक्तमनसा**) संक्लेश रहित चित्तवाला (**संक्लेशनिमित्तभीतेन**) संक्लेश के निमित्त से—संसार से भयभीत साधु को (**सततम्**) निरन्तर (**क्षुत्**) भूख (**तृष्णा**) प्यास (**हिमम्**) सर्दी (**उष्णं**) गरमी (**नग्नत्वं**) नग्नपना (**याचना**) प्रार्थना (**अरतिः**) अरति (**अलाभः**) अलाभ (**मशकादीनां दंशः**) मच्छर आदि का काटना (**आक्रोशः**) कुवचन—गाली (**व्याधिदुःखम्**) रोग का दुःख (**अङ्गमलम्**) शरीर का मैल (**तृणादीनां स्पर्शः**) तृण आदि का स्पर्श—काँटा लगना (**अज्ञानम्**) अज्ञान (**अदर्शनम्**) अदर्शन (**तथा**) और इसी प्रकार (**प्रज्ञा**) ज्ञान (**सत्कारपुरस्कारः**) सत्कार पुरस्कार (**शय्या**) शयन (**चर्या**) गमन (**वधः**) वध (**निषद्या**) आसन (**च**) और (**स्त्री**) स्त्री (**एते**) ये (**द्वाविंशतिः**) बाईस (**परीषहाः**) परीषह (**अपि**) भी (**परिषोढव्याः**) सहन करने चाहियें।

अर्थ—संक्लेशरहित चित्तवाला और संक्लेश के निमित्त से—संसार से भयभीत साधु को निरन्तर भूख, प्यास, सर्दी, गरमी, नग्नपना, प्रार्थना, अरति, अलाभ, मच्छर आदि का काटना, कुवचन – गाली, रोग का दु:ख, शरीर का मैल, तृण आदि का स्पर्श—कांटा लगना, अज्ञान, अदर्शन, और इसी प्रकार ज्ञान, सत्कार पुरस्कार, शयन, गमन, वध, आसन, और स्त्री—ये बाईस परीषह भी सहन करने चाहियें।

विशेषार्थ—'परीषह जय' का अर्थ है सहन करना अथवा परास्त करना। संवर के उपायों में परीषहजय भी एक उपाय है। भूख, प्यास, गरमी, सर्दी इत्यादि उपर्युक्त बाईस बाधायें उपस्थित होने पर, कर्मों की निर्जरा करने के लिये उनको समताभावपूर्वक सहन करना अथवा परास्त करना, संक्लेश परिणाम न होना अथवा परमसामायिक भाव द्वारा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से न डिगना परीषहजय है। भूख-प्यास आदि वेदनाओं के वशीभूत होकर संसारी जीव बहुत दु:खी तथा आकुल-व्याकुल होते हैं, परन्तु मुनिराज तो अपने शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव में लीन रहते हैं, अतः इन वेदनाओं के प्रति उनका लक्ष्य ही नहीं होता। यदि कदाचित् वेदना का अनुभव हो भी जाए तो उस समय वे विचार करते हैं कि—"हे आत्मन्! तूने अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक बार नाना प्रकार अन्न-पान को खाया-पिया तब भी तेरी भूख-प्यास शान्त नहीं हुई। अनेक बार तूने नरकगति में अत्यन्त भूख-प्यासादि को सहन किया है। यह शरीर तो नाशवान है, इस समय तू मोक्ष की सिद्धि में लगा हुआ है इसलिये अपने ज्ञान-दर्शनमय शुद्धात्म स्वरूप में लीन होकर इन वेदनाओं को शीघ्र चित्त से दूर कर। इस प्रकार तथा अन्य भावनाओं द्वारा साधुगण बाधाओं को परास्त करते हैं। अब बाईस परीषहों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

(१-२) 'क्षुत्-तृष्णा परीषह'—भूख और प्यास सम्बन्धी अत्यन्त बाधा उत्पन्न होने पर भी अपने चित्त में उसका तनिक भी विकल्प न होने देना, अपने ध्यान—अध्ययन में रत रहना क्रमशः क्षुत्-तृष्णा परीषह जय है।

(३-४) 'हिमोष्ण परीषह'—पौष-माघ की महा भयंकर शीत में महाधीर दिगम्बर मुनिराज नदी अथवा सरोवर के किनारे तथा ज्येष्ठ की चिलचिलाती धूप में पत्थर की तपती हुई शिला पर बैठकर दुर्धर तपश्चरण करते हैं। उस समय सर्दी-गरमी की बाधा की ओर तुषमात्र भी ध्यान न देकर समतापूर्वक आत्मस्वभाव में स्थित रहते हैं। यह हिमोष्ण परीषह जय है।

(५) 'नग्नत्व परीषह'—बालक के समान निष्कलंक जातरूप नग्न मुद्रा धारी मुनिराज सूत इत्यादि समस्त प्रकार के वस्त्रों तथा चर्म, बाल तथा वृक्षों के वल्कलादि के पूर्ण त्यागी होते हैं। नग्न रहने से रंचमात्र भी लज्जा अथवा दुःख नहीं मानते। वे तो अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने शुद्धात्म स्वरूप में रमण करते हैं—यह नग्नत्व परीषह जय है।

(६) 'याचना परीषह'—मुनिव्रत का मूल अयाचना वृत्ति है। भूख-प्यास सहते-सहते चाहे शरीर कितना ही कृश हो जाए, फिर भी उनके मन में याचना का भाव कभी भी उत्पन्न नहीं होता। आहार-पान इत्यादि के माँगने का तो प्रश्न ही नहीं, वह तो तीर्थंकर भगवान् से मोक्ष की याचना भी नहीं करते—यह याचना परीषह जय है।

(७) 'अरति परीषह'—मुनिराज को चाहे इष्ट वियोग हो अथवा अनिष्ट संयोग, कोई उनकी स्तुति अथवा निन्दा करे, उनको सुख हो अथवा दुःख, उनको जीवन हो या मरण, वे किसी भी अवस्था में रति-अरति अर्थात् राग द्वेष नहीं करते, अपने चित्त में सदा ही समता धारण करके अपने स्वरूप में मग्न रहते हैं—यह अरति परीषह जय है।

(८) 'अलाभ परीषह'—साधु नाना प्रकार के उपवास करके तपश्चरण करते हैं। अनेक उपवासों के पश्चात् पारणा के दिन निर्दोष आहार का लाभ न हो तो मुनिराज चित्त में तृणमात्र भी खेद नहीं करते। उन्हें तो लाभ-अलाभ समान हैं—यह अलाभ परीषह जय है।

(९) 'मशकादिदंश परीषह'—डाँस, मच्छर, खटमल, पिस्सु, चींटी, मकोड़ा तथा बिच्छु आदि को 'मशक' कहते हैं। 'दंश' डंक को कहते हैं। इन जीवों के काटने से शरीर में असह्य वेदना उत्पन्न होती हैं। मुनिराज उस पीड़ा को खेद-खिन्न हुए बिना सहन करते हैं—यह मशकादि दंश परीषह जय है।

(१०) 'आक्रोश परीषह'—दिगम्बर मुनिराज को देखकर कुछ लोग निन्दा करते हैं, मजाक—खिल्ली उड़ाते हैं, कठोर—दुर्वचन बोलते हैं अथवा गाली देते हैं, यहाँ तक कि डंडे इत्यादि से मार भी देते हैं, तब भी उत्तमक्षमा के धारी मुनिराज क्षणमात्र के लिये भी क्रोध नहीं करते। उपसर्ग जानकर अपने स्वरूप में लीन हो जाते हैं—यह आक्रोश परीषह जय है।

(११) 'व्याधिदुःख परीषह'—पूर्व संचित असातावेदनीय कर्म के उदय से यदि मुनिराज के शरीर में किसी प्रकार की व्याधि (रोग) हो जाए, तो वह उससे उत्पन्न हुए दुःख को समतापूर्वक सहन करते हैं, आकुल-व्याकुल नहीं होते। पूर्व कृत कर्मों का फल जानकर अपने आत्मध्यान में लीन रहते हैं—यह व्याधि परीषह जय है।

(१२) 'अङ्गमल परीषह'—मुनिराज को जीवन पर्यन्त स्नान का त्याग होता है। मिट्टी-धूल जम जाने के कारण उनका शरीर मलिन हो जाता है। कभी-कभी तो चर्मरोग भी हो जाता है, परन्तु मुनिराज का अपने शरीर की मलिन अवस्था के प्रति ध्यान नहीं जाता। वह शरीर के अशुचि स्वभाव को भली प्रकार जानते हैं। वे तो अपने निर्मल आत्म गुणों में स्थित रहते हैं—यह अङ्गमल परीषह जय है।

(१३) 'तृणादिस्पर्श परीषह'—चलते समय, बैठते समय या लेटते समय यदि मुनिराज के शरीर में कोई पत्थर, कंकड़ अथवा काँटा इत्यादि चुभ जाए तो वे उसे समता पूर्वक सहन कर लेते हैं तथा मन में किसी प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न होने नहीं देते—यह तृणादिस्पर्श परीषह जय है।

(१४) 'अज्ञान परीषह'—मुनिराज सदा ही ध्यान-अध्ययन में रत रहते हैं तथा कठोर तप संयम इत्यादि के पालन में अपना समय व्यतीत करते हैं। यदि अनेक वर्षों तक भी उपर्युक्त क्रियाओं के फल-स्वरूप उन्हें अवधि ज्ञान आदि की प्राप्ति नहीं होती तो वे किञ्चित् भी खेद नहीं करते। उसे ज्ञानावरण कर्म का उदय मानते हुए अपने नित्यानन्द स्वरूप में ही सन्तोष धारण करते हैं—यह अज्ञान परीषह जय है।

(१५) 'अदर्शन परीषह' -चिरकाल तक महाव्रतों का निरतिचार पालन करके तथा उग्रोग्र तप धारण करने पर भी यदि मुनिराज को कोई ऋद्धि अथवा ज्ञानातिशय प्राप्त नहीं होता है तो भी वे जिनेन्द्र भगवान् के मोक्षमार्ग में अथवा तप-संयम आदि के माहात्म्य में किसी प्रकार की शंका या संशय उत्पन्न नहीं होने देते -- इस प्रकार अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखना ही अदर्शन परीषह जय है।

(१६) 'प्रज्ञा परीषह'—मुनिराज को यदि ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त हो जाए अथवा अवधि ज्ञान या मनः पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हो जाए तो भी वे अपने ज्ञान का अतिशय अथवा ऋद्धि का रंचमात्र भी गर्व नहीं करते—यह प्रज्ञा (ज्ञान) परीषह जय है।

(१७) 'सत्कारपुरस्कार परीषह' -दिगम्बर मुनिराज आदर-सत्कार-सम्मान आदि में हर्षित अथवा गर्वित नहीं होते तथा अपमान-अनादर-तिरस्कार इत्यादि में विषाद नहीं करते। दोनों अवस्थाओं में समता भाव धारण करना सत्कार पुरस्कार परीषह जय है।

(१८) 'शय्या परीषह' मुनिगण ऊँची-नीची या पथरीली कठोर किन्तु जीव रहित भूमि पर रात्रि के अन्तिम पहर में एक करवट से किञ्चित् थोड़ी देर के लिये निद्रा लेते हैं। उस समय अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर में कंकड़ आदि चुभने से दुःखी नहीं होते। उस बाधा को समता पूर्वक सहन करते हुए अपने आत्मस्वरूप/ध्यान अवस्था से विचलित नहीं होना शय्या परीषह जय है।

(१९) 'चर्य्या परीषह'—दिगम्बर मुनि हाथी-घोड़ा, रथ-पालकी अथवा रेल-मोटर-हवाई जहाज इत्यादि सवारी का प्रयोग नहीं करते हमेशा पैदल, नंगे पाँव ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक विहार करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में तप्तायमान मार्ग में पैर जलने अथवा कंकड़, पत्थर, कांटा इत्यादि चुभने से किञ्चित भी खेद-खिन्न नहीं होते। ऐसी बाधाओं को समतापूर्वक सहन करना चर्य्या परीषह जय है।

(२०) 'वध परीषह'—कोई पापी जीव यदि मुनिराज को रस्सी से बाँध दे, डंडे-पत्थर इत्यादि से मारे अथवा अन्य भी उपद्रव/उपसर्ग करके महान कष्ट पहुँचाए तो भी वे रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं करते अथवा दुःखी नहीं होते। वे तो अपने पूर्व उपार्जित पाप कर्मों का उदय समझ कर उन बाधाओं को समतापूर्वक सहन करते हैं तथा ऐसा विचार करते हैं कि मेरी आत्मा तो अविनाशी, अजर-अमर चिदानन्दमय है, उसे कोई किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सकता—यह वध परीषह जय है।

(२१) 'निषद्या परीषह'—मुनिराज निर्जन एकान्त स्थान—श्मशान, बाग, शून्यघर अथवा पहाड़ की गुफा आदि में निवास करते हैं। वहाँ रहते हुये वीरासन, पद्मासन, अथवा खड्गासन में स्थित होकर शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करते हैं। ध्यान में लीन रहते हैं। ऐसे ध्यान समय में यदि सिंह इत्यादि जंगली जानवर भीषण गर्जन करें अथवा व्यन्तर आदि का उपसर्ग उपस्थित हो तो भी मुनिराज का अपने ध्यान से किञ्चित् भी विचलित न होना निषद्या परीषह जय है।

(२२) 'स्त्री परीषह'—मुनिराज तो स्त्री का त्याग करके नव-कोटि से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। यदि धर्मध्यान, तपश्चर्या अथवा स्वाध्याय करते समय कोई महासुन्दर स्त्री अपने हाव-भाव, मिष्ट वचन अथवा विलास एवं कौतुक भरी क्रियाओं से मुनिराज को फुसलाना चाहे तो वह तनिक भी चलायमान नहीं होते और अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये अपने चैतन्य ज्योतिस्वरूपी शुद्धात्म स्वभाव में ही रमण करते हैं—यह स्त्री परीषह जय है।

इस प्रकार मुनिधर्म की मुख्यता से बाईस परीषहों का वर्णन किया गया है। श्रावक व्रतों का एकदेश पालन करता है, अतः उसे भी यथाशक्ति यथायोग्य परीषह जय का अभ्यास करना चाहिये।

मोक्षाभिलाषी को निरन्तर हर समय रत्नत्रय का पालन करना चाहिए।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥
॥ ७-१३-२०९ ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**निरत्ययां**) अविनाशी (**मुक्तिम्**) मुक्ति को (**अभिलषिता**) चाहने वाले (**गृहस्थेन**) गृहस्थों को (**अपि**) भी (**प्रतिसमयं**) हर समय (**एतत्**) पूर्वोक्त (**रत्नत्रयम्**) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का (**विकलमपि**) एकदेश (**अनिशं**) निरन्त (**परिपालनीयम्**) पालन करना चाहिये।

अर्थ—इस प्रकार अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ को भी हर समय पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का एक-देश पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—अभी तक इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने सकल (पूर्ण) तथा विकल (एकदेश) रत्नत्रय के स्वरूप का वर्णन किया है। मुनि महाराज को तो रत्नत्रय पूर्णरूप से होता है, परन्तु गृहस्थ/श्रावक को एकदेश होता है। यदि श्रावक पूर्णरूप मे रत्नत्रय का पालन न कर सके अर्थात् मुनि के महाव्रतों को ग्रहण करने में असमर्थ हो तो उसे एकदेश रत्नत्रय तो अवश्य पालना चाहिये। मोक्षाभिलाषी श्रावक/मुनि को रत्नत्रय की आराधना से किसी समय भी तथा किसी भी दशा में विमुख नहीं होना चाहिये, क्योंकि रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है। मुनि का रत्नत्रय महाव्रत के प्रताप से साक्षात् मोक्ष का कारण है तथा श्रावक का रत्नत्रय अणुव्रत के प्रताप से परम्परा से मोक्ष का कारण है।

वास्तव में मोक्षमार्ग तो एक ही है, परन्तु निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा वह दो प्रकार का है। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। परपदार्थों—सात तत्त्वार्थों इत्यादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और अपने शुद्धात्मस्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। शास्त्रों से सात तत्त्वार्थों आदि को जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा अपने शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। हिंसादि अशुभ कार्यों का त्याग तथा अहिंसादि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है तथा शुभाशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग रूप निज शुद्धात्मस्वरूप में लीन होना/स्थिर होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। करणानुयोग शास्त्रों के अनुसार दर्शन मोहनीय की तीन (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यग्प्रकृति) तथा चारित्रमोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ) —इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयरूप अभाव होने पर ही निश्चय सम्यक्त्व संभव है, इससे पहले समस्त सम्यक्त्व व्यवहार रूप ही है।

गृहस्थों को शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिये—

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्॥
॥ ७-१४-२१० ॥

अन्वयार्थ—(**नित्यं**) निरन्तर (**बद्धोद्यमेन**) उद्यमशील, मोक्षाभिलाषी—एकदेश रत्नत्रयधारी—ऐसे गृहस्थ को (**बोधिलाभस्य**) ज्ञान लाभ का (**समयं**) अवसर (**लब्ध्वा**) प्राप्त करके (**च**) और (**मुनीनां**) मुनियों के (**पदम्**) पद का (**अवलम्ब्य**) अवलम्बन लेकर (**सपदि**) शीघ्र ही (**परिपूर्णम्**) रत्नत्रय की परिपूर्णता (**कर्त्तव्यं**) करनी चाहिये।

अर्थ—निरन्तर उद्यमशील, मोक्षाभिलाषी, एकदेश रत्नत्रयधारी—ऐसे गृहस्थ को ज्ञान लाभ का अवसर प्राप्त करके और

मुनियों के पद का अवलम्बन लेकर शीघ्र ही रत्नत्रय की परिपूर्णता करनी चाहिये।

विशेषार्थ--मुक्ति/मोक्ष प्राप्ति करने के लिए मुनिपद का ग्रहण करना अतिआवश्यक है। मुमुक्षु जीव गृहस्थ दशा में ही संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय भोगों से उदास होकर सदा ही मोक्षमार्ग में उद्यमी रहते हैं। उन्हें चाहिये कि अपनी योग्यता और शक्ति का विचार करके शीघ्र ही यत्नपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग करके मुनिपद को धारण करें। मुनिपद में शुद्धोपयोग रूप निर्विकल्प ध्यान में आरूढ़ होकर रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त करके, वे शीघ्र ही मोक्ष पद को पा सकते हैं।

अपूर्ण रत्नत्रय अवस्था में राग कर्मबन्ध का कारण है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥
॥ ७-१५-२११ ॥

अन्वयार्थ—(**असमग्रं**) अपूर्ण—एकदेश (**रत्नत्रयम्**) रत्नत्रय की (**भावयतः**) भावना करने वाले जीव के (**यः**) जो (**कर्मबन्धः**) कर्म का बन्ध (**अस्ति**) होता है, (**सः**) वह बन्ध (**विपक्षकृतः**) विपक्ष अर्थात् राग कृत है, रत्नत्रय तो (**अवश्यं**) अवश्य ही (**मोक्षोपाय**) मोक्ष का उपाय है (**बन्धनोपायः न**) बन्ध का उपाय नहीं है।

अर्थ—अपूर्ण- एकदेश रत्नत्रय की भावना करने वाले जीव के जो कर्मबन्ध होता है, वह बन्ध विपक्ष अर्थात् राग कृत है, रत्नत्रय तो अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं है।

विशेषार्थ- रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष का कारण है। जब तक रत्नत्रय अपूर्ण है, तब तक प्रशस्त राग / शुभकषाय से जनित कर्म बन्ध हुआ ही करता है—ऐसा सिद्धान्त है। अपूर्ण रत्नत्रय अवस्था में पंचपरमेष्ठी की आराधना इत्यादि रूप शुभराग पाया जाता है। वह

राग ही कर्मबन्ध का कारण है। रत्नत्रय कदापि कर्मबन्ध का कारण नहीं, वह तो कर्मनिर्जरा का ही कारण है। कहा भी है—'क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्य (अपूर्ण) भाव से परिणमन करते हैं, इसलिये ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि जीव) अनेक प्रकार के पुद्‌गलकर्म से बन्धता है।'
(स० सा० १७२)

रत्नत्रय और राग का फल—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
॥ ७-१६-२१२ ॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
॥७-१७-२१३॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
॥७-१८-२१४॥

अन्वयार्थ—(**अस्य**) इस जीव के (**येनांशेन**) जितने अंश में (**सुदृष्टि**) सम्यग्दर्शन है, (**तेन**) उतने अंश में (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**नास्ति**) नहीं है (**तु**) परन्तु (**येन**) जितने (**अंशेन**) अंश में (**अस्य**) इसके (**रागः**) राग है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अंश में (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**भवति**) होता है। (**येन**) जितने (**अंशेन**) अंश में (**अस्य**) इस जीव के (**ज्ञानं**) ज्ञान है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अंश में (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**नास्ति**) नहीं है (**तु**) परन्तु (**येन**) जितने (**अंशेन**) अंश में (**रागः**) राग है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अंश में (**अस्य**) इसके (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**भवति**) होता है। (**येन**) जितने अंश में (**अस्य**) इस जीव के (**चरित्रं**) चारित्र है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अंश में (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**नास्ति**) नहीं है (**तु**) परन्तु (**येन**) जितने (**अंशेन**) अंश में (**रागः**) राग है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अंश में (**अस्य**) इसके (**बन्धनं**) कर्मबन्ध (**भवति**) होता है।

अर्थ--इस जीव के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है, परन्तु जितने अंश में इसके राग है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है। इस जीव के जितने अंश में ज्ञान है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है, परन्तु जितने अंश में इसके राग है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है। इस जीव के जितने अंश में चारित्र है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं है, परन्तु जितने अंश में राग है, उतने अंश में इसके कर्मबन्ध होता है।

विशेषार्थ--जीव के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। बहिरात्मा तो एकदम मिथ्यादृष्टि है, राग-द्वेष का पूर्ण सद्भाव है, अतः उसके सर्वथा कम बन्ध होता है। अन्तरात्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं, जितने अंश में राग-द्वेष भाव है उतने अंश में कर्म बन्ध है। परमात्मा —भगवान् के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (केवलज्ञान) की पूर्णता है तथा राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होने से लेशमात्र भी कर्म बन्ध नहीं, मोक्ष ही है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीण-कषाय गुणस्थान तक है। उसके जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, उतने अंश में कर्मबन्ध नहीं, जितने अंश में राग-द्वेष भाव (२५ कषाय) विद्यमान हैं, उतने अंश में कर्मबन्ध है। चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा नपुंसक और स्त्रीवेद का अभाव होने से, उन सम्बन्धी कर्मबन्ध नहीं है, शेष उन्नीस प्रकृतियां का बन्ध होता है। पाँचवें गुण-स्थान में अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव होने से उनका भी कर्मबन्ध समाप्त हो जाता है। शेष पन्द्रह प्रकृतियों का बन्ध होता है। छठे और सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ तथा अरति और शोक का अभाव होने से उन जनित कर्मबन्ध भी समाप्त हो जाता है, शेष नौ प्रकृतियों का बन्ध होता है। नौवें गुणस्थान में हास्य, रति, भय तथा जुगुप्सा का अभाव होने से तत्सम्बन्धी बन्ध समाप्त हो जाता है, शेष पाँच प्रकृति जनित कर्मबन्ध होता है। दसवें गुणस्थान में संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ तथा पुरुष वेद का

अभाव हो जाता है, तब राग-द्वेष सम्बन्धी बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्यों-ज्यों अन्तरात्मा के राग-द्वेष भावों का अभाव होता जाता है, त्यों-त्यों कर्मबन्ध का भी अभाव होता जाता है।

पुनः जितने अंश में सम्यक्चारित्र प्रकट हो जाता है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं होता और जितने अंश में राग-द्वेष भाव हैं उतने ही अंश में कर्मबन्ध है। बहिरात्मा के मिथ्या चारित्र/अचारित्र होता है। राग-द्वेष का पूर्ण सद्भाव होने से समस्त कर्मों का बन्ध होता है। अन्तरात्मा के जितने अंश में राग-द्वेष का अभाव है उतने अंश में कर्मबन्ध का अभाव है, जितने अंश में राग-द्वेष है, उतने अंश में कर्मबन्ध है। परमात्मा के सम्यक् चारित्र की पूर्णता है, इसलिये किसी प्रकार का कर्मबन्ध नहीं होता।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के उदय में मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोहनीय के उदय से अचारित्र अथवा मिथ्याचारित्र होता है। सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं—एक स्वरूपाचरण और दूसरा संयमाचरण। संयमाचरण के भी दो भेद हैं—एकदेश चारित्र तथा सर्वदेशचारित्र। चौथे गुणस्थान में जघन्य स्वरूपाचरण प्रकट हो जाता है। पाँचवें गुणस्थान में एकदेश चारित्र होता है। छठे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सर्वदेश चारित्र होता है। तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर वही मुनिराज परमात्मा बन गए, उनके कषाय सम्बन्धी समस्त कर्म बन्ध का अभाव हो जाता है, केवल साता वेदनीय का एक समय मात्र का बन्ध होता है।

जितना-जितना कषायों का अभाव होता जाता है, उतना-उतना उस जीव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विकास होता जाता है। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन और जघन्य स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट होता है। अप्रत्याख्यानावरणीय चौकड़ी के अभाव में एकदेश चारित्र होता है। प्रत्याख्यानावरणीय चौकड़ी के अभाव में सकल चारित्र प्रकट होता है। संज्वलन चौकड़ी तथा नौ नोकषायों के अभाव में यथाख्यात चारित्र

की प्राप्ति होती है। इस प्रकार चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियाँ ही जीव में राग-द्वेष उत्पन्न करने में निमित्त हैं। उनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान, संज्वलन क्रोध-मान तथा अरति, शोक, भय और जुगुप्सा— ये बारह प्रकृतियाँ तो द्वेष रूप है तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ राग रूप हैं। इन कषायों के वशीभूत जीव अनादि काल से संसार रूपी सागर में जन्म-जरा-मरण आदि के अनन्त दुःखों को भोग रहा है। आठों कर्मों में मोहनीय सर्वशक्तिमान है, इसलिये इसको सबसे पहले अपनी अनन्त आत्मशक्ति से जीत कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करनी चाहिये। रत्नत्रय की एकता तथा पूर्णता ही मोक्ष का कारण है।

आत्मा के साथ कर्मबन्ध का कारण—

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥
॥७-१६-२१५॥

अन्वयार्थ—(**योगात्**) मन, वचन, काय के व्यापार से (**प्रदेश-बन्धः**) प्रदेशबन्ध और (**कषायात्**) क्रोधादि कषायों से (**स्थिति-बन्धः**) स्थिति बन्ध (**भवति**) होता है, परन्तु (**दर्शनबोधचरित्रं**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय (**न**) न (**तु**) तो (**योगरूपं**) योगरूप है (**च**) और न ही (**कषायरूपं**) कषाय रूप है।

अर्थ—मन, वचन, काय के व्यापार से प्रदेशबन्ध और क्रोधादि कषायो से स्थिति बन्ध होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न तो योग रूप हैं और न ही कषाय रूप हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक में कर्मबन्ध के भेद तथा कारणों का उल्लेख है। मन, वचन, काय की हलन-चलन रूप क्रिया को योग कहते हैं। उस योग से प्रकृति तथा प्रदेशबन्ध होता है तथा क्रोधादि कषायों से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र न तो योग रूप हैं और न ही कषाय रूप हैं, अतः ये कर्मबन्ध के कारण नहीं हैं। आगे इसी विषय को और स्पष्ट करते हैं—

कर्मबन्ध के चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध। कर्मबन्ध के उक्त चार भेदों को समझने के लिये हमें सर्वप्रथम ही पुद्गल कर्मों के भेदों तथा उनके स्वभाव को अच्छी तरह जानना होगा। पुद्गल कर्मों की आठ मूल प्रकृतियाँ तथा उत्तरप्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) 'ज्ञानावरणीय' कर्म का स्वभाव परदे के समान है। जैसे परदे से ढकी हुई वस्तु का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार जब तक आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का परदा पड़ा है तब तक वह आत्मा को पदार्थों के स्वरूप का सम्यग्ज्ञान नहीं होने देता।

(२) 'दर्शनावरणीय' कर्म का स्वभाव दरबान के समान है। जैसे दरबान राजा का दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ दर्शन नहीं होने देता।

(३) 'वेदनीय' कर्म का स्वभाव शहद लपेटी तलवार के समान है। वह तलवार चखने पर पहले तो मीठी लगती है परन्तु जीभ काट देती है। वैसे ही वेदनीय कर्म पहले तो सुखदायक लगता है परन्तु थोड़े समय पश्चात् दुःखदायक बन जाता है। सुख-दुःख के कारणों का संयोग जुड़ाकर सुख-दुःखादि के अनुभव में निमित्त होना ही वेदनीय कर्म का स्वभाव है।

(४) 'मोहनीय' कर्म का स्वभाव तेज मदिरा के समान है। जैसे मदिरा पीने से मनुष्य मतवाला हो जाता है और उसे अपने स्वरूप का भान नहीं रहता, वैसे ही मोहनीय कर्म आत्मा को अपने स्वरूप का भान नहीं होने देता। मोहनीय कर्म के उदय में जीव पर-पदार्थों में अपनत्व/स्वामित्व तथा उनका कर्त्ता-भोक्ता अपने को मानता हुआ सुख-दुखादि का अनुभव करता है।

(५) 'आयु' कर्म का स्वभाव शिकंजे के समान है। जब तक कोई प्राणी शिकंजे में पकड़ा हुआ है तब तक वह कहीं नहीं जा

सकता। उसी प्रकार जब तक जीव का आयुकर्म शेष है तब तक उसे उसी शरीर में रहना पड़ेगा।

(६) 'नाम' कर्म का स्वभाव चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार मनुष्य, घोड़ा इत्यादि के नाना प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म भी जीव को कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच, कभी देव और कभी नारकी बनाता है। कभी एकेन्द्रिय आदि जातियों में जन्म कराता है तथा कभी गूंगा-बहरा, लंगड़ा, मोटा-पतला, काला-गोरा इत्यादि बनाता है।

(७) 'गोत्र' कर्म का स्वभाव कुंभकार के समान है। जैसे कुंभकार छोटे-बड़े बरतन बनाता है, वैसे ही गोत्र कर्म जीव को कभी उच्चकुल में तथा कभी नीचकुल में उत्पन्न करता है।

(८) 'अन्तराय' कर्म का स्वभाव भण्डारी जैसा है। जैसे सेठ तो दान इत्यादि देना चाहता है परन्तु भण्डारी उसमें विघ्न डालता है, दान नहीं करने देता, वैसे ही अन्तराय कर्म आत्मा को प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न डालता है। इस प्रकार आठ कर्मों के स्वभाव का वर्णन करके अब कर्मबन्ध के चार भेदों को स्पष्ट करते हैं—

(१) 'प्रकृतिबन्ध'—प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। उपर्युक्त आठ कर्मों का अपने-अपने स्वभाव सहित आत्मा के साथ सम्बन्ध को/एकक्षेत्रावगाहन को प्राप्त होना प्रकृति बन्ध है।

(२) 'प्रदेशबन्ध'—आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश के साथ उपर्युक्त आठ कर्मों के अनन्तानन्त परमाणु बँधते हैं। एकक्षेत्रावगाह होकर रहते हैं—यह प्रदेशबन्ध है।

(३) 'स्थिति बन्ध'—उपर्युक्त आठ कर्मों का जीव के साथ बँधे रहने/एकक्षेत्रावगाह रहने के काल/मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर है। दर्शनमोहनीय की सत्तर कोड़ा-

कोड़ी सागर, चारित्रमोहनीय की चालीस कोड़ा-कोड़ी सागर, आयु-कर्म की तैंतीस सागर, नाम और गोत्र कर्म की बीस कोड़ा-कोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय अन्तराय तथा आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त, वेदनीय की बारह मुहूर्त तथा गोत्रकर्म की आठ मुहूर्त है। उत्कृष्ट और जघन्य के बीच में स्थितिबन्ध के अनन्त भेद हैं।

(४) 'अनुभाग बंध'—कर्मों की सुख-दुःख देने की शक्ति को 'अनुभाग' कहते हैं। चार घातिया (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों का अनुभाग तो अशुभ रूप ही होता है तथा अघातिया (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) कर्मों का अनुभाग शुभरूप तथा अशुभरूप दोनों प्रकार का होता है। घातिया कर्मों का तो लता, लकड़ी, हड्डी और पत्थर रूप क्रम से बढ़ता-बढ़ता बंध होता है। अघातिया कर्मों का शुभरूप अनुभाग तो गुड़, खाण्ड, शक्कर तथा अमृत समान क्रमशः बढ़ते हुए मिठास रूप शुभ फल देता है और यदि अशुभ रूप हो तो नीम, कांजी, विष और हलाहल के समान क्रमशः बढ़ती हुई कड़वाहट की तरह अशुभ फल देता है।

रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नहीं है—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।।
॥ ७-२०-२१६ ॥

अन्वयार्थ—(**आत्मविनिश्चितिः**) अपने आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ दृढ़ निश्चय (**दर्शनम्**) सम्यग्दर्शन है (**आत्मपरिज्ञानम्**) आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ पूर्ण ज्ञान (**बोधः**) सम्यग्ज्ञान है और (**आत्मनि**) आत्मस्वरूप में (**स्थितिः**) लीनता (**चारित्रं**) सम्यक्-चारित्र (**इष्यते**) कहा जाता है तो फिर (**एतेभ्यः**) इन तीनों से (**कुतः**) किस प्रकार (**बन्धः**) कर्मबन्ध (**भवति**) होता है?

अर्थ—अपने आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ दृढ़ निश्चय सम्यग्-दर्शन है, आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ पूर्ण ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और

आत्मस्वरूप में लीनता सम्यक्चारित्र कहा जाता है तो फिर इन तीनों से किस प्रकार कर्मबन्ध होता है ? अर्थात् कर्मबन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ—अपने चेतन आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णयात्मक दृढ़ श्रद्धान करना 'सम्यग्दर्शन' है। आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णयात्मक पूर्ण ज्ञान करना 'सम्यग्ज्ञान' है तथा शुद्धात्म स्वरूप में लीनता/स्थिरता होना 'सम्यक्चारित्र' है। ये तीनों गुण आत्मा के निजस्वरूप हैं। निज स्वरूप कभी भी बन्ध का कारण नहीं हो सकता। अतः रत्नत्रय आत्मस्वरूप ही होने से कदापि भी कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकता।

रत्नत्रय के दो भेद है—व्यवहार रत्नत्रय तथा निश्चय रत्नत्रय। अपने से भिन्न पर-पदार्थों—देव, शास्त्र, गुरु का अथवा सात तत्त्वार्थों आदि का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है, उन्हीं पर-पदार्थों के स्वरूप को जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा हिंसादि अशुभ क्रियाओं से प्रवृत्ति हटाकर अहिंसादि शुभ क्रियाओं में परिणमन करना व्यवहार सम्यक्चारित्रहै । यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आत्मा अपने जिस शुद्धस्वरूप का यथार्थ दर्शन/श्रद्धान करता है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। जिस शुद्धस्वरूप का श्रद्धान किया था उसी के शुद्धस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना निश्चय सम्यग्ज्ञान है तथा उसी शुद्ध स्वरूप आत्मा में परिणमन/आचरण/विश्राम/स्थिति करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है, कर्मों से छुड़ाने का कारण है। यह तिल तुषमात्र भी कर्मबन्ध का कारण नहीं है।

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों के भी बन्ध का कारण नहीं है—

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय॥
॥ ७-२१-२१७ ॥

अन्वयार्थ—(**तीर्थंकराहारकर्म्मणः**) तीर्थंकर प्रकृति और आहारक प्रकृति का (**अपि**) भी (**यः**) जो (**बन्धः**) बंध (**सम्यक्त्वचारित्राभ्यां**) सम्यक्त्व और चारित्र से (**समये**) आगम में (**उपदिष्टः**) कहा गया है (**सः**) वह (**अपि**) भी (**नयविदां**) नयविभाग के जानने वालों को (**दोषाय**) दोष का कारण (**न**) नहीं है।

अर्थ—तीर्थंकर प्रकृति और आहारक प्रकृति का जो बन्ध सम्यक्त्व और चारित्र से आगम में कहा गया है, वह भी नयविभाग के जानने वालों को दोष का कारण नहीं है।

विशेषार्थ—आगम में ऐसा कथन आता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक प्रकृति का बंध होता है। ऐसा कथन किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न नहीं करता। नयविभाग के जानने वाले इसमें कोई दोष नहीं मानते। उसी का स्पष्टीकरण—तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक प्रकृति का बंध सम्यक्त्व अवस्था में ही होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है, मिथ्यादृष्टि जीव को नहीं होता। सम्यक्त्व के दो भेद हैं—एक सराग सम्यक्त्व तथा दूसरा वीतराग सम्यक्त्व। सरागी सम्यक्त्व कुछ रागभाव से मिश्रित होता है तथा वीतराग सम्यक्त्व रागभाव रहित होता है। सम्यक्त्व अवस्था में सरागभाव के सद्भाव में तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक प्रकृति का बंध होता है, वीतराग सम्यक्त्व में नहीं होता। आगे श्लोक में इसका और भी खुलासा है।

पूर्वकथन का स्पष्टीकरण—

सति सम्यक्त्वचारित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥
॥ ७-२२-२१८ ॥

अन्वयार्थ—(**सम्यक्त्वचारित्रे सति**) सम्यक्त्व और चारित्र होने पर (**तीर्थंकराहारबन्धकौ**) तीर्थंकर और आहारक प्रकृति बंध करने

वाले (योगकषायौ) योग और कषाय होते हैं (पुनः) और (असति न) नहीं होने पर नहीं होते, अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र विना योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बंध के कर्त्ता नहीं होते (तत्) वह सम्यक्त्व और चारित्र (अस्मिन्) इस बंध में (उदासीनम्) उदासीन हैं।

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र होने पर तीर्थंकर और आहारक प्रकृति बंध करने वाले योग और कषाय होते हैं और नहीं होने पर नहीं होते, अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र विना योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बंध के कर्त्ता नहीं होते, सम्यक्त्व और चारित्र इस बंध में उदासीन हैं।

विशेषार्थ—सराग सम्यक्त्व तथा चारित्र अवस्था में योग और कषाय के सद्भाव में ही तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध होता है। तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध सम्यक्त्व और चारित्र अवस्था में ही होता है अन्यथा नहीं होता, परन्तु वह सम्यक्त्व और चारित्र बंध का कारण नहीं है वह तो उदासीन ही है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध तो योग, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय संज्वलन तथा नौ नोकषायों के सद्भाव में भी होता है और आहारक प्रकृति का बंध योग तथा संज्वलन कषाय के सद्भाव में ही होता है। अतः रत्नत्रय इन प्रकृतियों के बंध का कारण नहीं है। सम्यक्त्व अवस्था में योग और कषाय ही इनके बंध के कारण हैं।

शंका—सम्यक्त्व देवायु के बंध का कारण कैसे ठहरेगा?—

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्॥
॥७-२३-२१९॥

अन्वयार्थ—(ननु) कोई शंकाकार शका करता है कि (**रत्नत्रयधारिणां**) रत्नत्रय के धारक (**मुनिवराणाम्**) श्रेष्ठ मुनियों को (**सकलजनसुप्रसिद्धः**) सर्वलोक में भली प्रकार प्रसिद्ध (**देवायुःप्रभृति-**

सत्प्रकृतिबन्धः) देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बंध (**एवं**) पूर्वोक्त प्रकार से (**कथम्**) किस तरह (**सिद्ध्यति**) सिद्ध होगा।

अर्थ—कोई शंकाकार शंका करता है कि रत्नत्रय के धारक श्रेष्ठ मुनियों को सर्वलोक में भली प्रकार प्रसिद्ध देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बंध पूर्वोक्त प्रकार से किस तरह सिद्ध होगा ?

विशेषार्थ—यहाँ कोई शंका करता है कि रत्नत्रय तो कर्मबन्ध का कारण नहीं है ऐसा आप सिद्ध कर चुके हैं। परन्तु शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ मुनियों को देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। शास्त्रों का यह कथन कैसे संगत सिद्ध होगा ? इसका समाधान आचार्यश्री अगले श्लोक में करते हैं।

शंका-समाधान—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥
॥७-२४-२२०॥

अन्वयार्थ—(**इह**) इस लोक में (**रत्नत्रयम्**) रत्नत्रय (**निर्वाणस्य एव**) निर्वाण का ही (**हेतुः**) कारण (**भवति**) होता है (**अन्यस्य**) अन्य गति का (**न**) नहीं और रत्नत्रय में (**यत्**) जो (**पुण्यं आस्रवति**) पुण्य का आस्रव होता है (**अयम्**) यह (**तु**) तो (**शुभोपयोगः**) शुभोपयोग का (**अपराधः**) अपराध है।

अर्थ—इस लोक में रत्नत्रय निर्वाण का ही कारण होता है, अन्यगति का नहीं और रत्नत्रय में जो पुण्य का आस्रव होता है, यह तो शुभोपयोग का अपराध है।

विशेषार्थ—यह पूर्व श्लोक में उठाई गई शंका का समाधान है। आचार्यश्री कहते हैं—रत्नत्रय तो वास्तव में निर्वाण का ही कारण है, परन्तु रत्नत्रय के सद्भाव में भी जो शुभोपयोग और शुभकषाय विद्यमान रहते हैं उनके कारण देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध

होता है। यह शुभोपयोग का अपराध (फल) है, रत्नत्रय का दोष किञ्चित् भी नहीं है।

सम्यक्त्व से शुभप्रकृतिबन्ध—यह व्यवहार कथन है—

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः॥
॥७-२५-२२१॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**एकस्मिन्**) एक ही वस्तु में (**अत्यन्तविरुद्धकार्ययोः**) अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के (**अपि**) भी (**समवायात्**) मेल से (**तादृशः अपि**) वैसा ही (**व्यवहारः**) व्यवहार (**रूढिम्**) रूढ़ि को (**इतः**) प्राप्त होता है (**यथा**) जैसे (**इह**) इस लोक में (**घृतम् दहति**) घी जलाता है—(**इति**) इस प्रकार की कहावत है।

अर्थ—निश्चय ही एक ही वस्तु में अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के भी मेल से वैसा ही व्यवहार रूढ़ि को प्राप्त होता है, जैसे—इस लोक में 'घी जलाता है'—इस प्रकार की कहावत है।

विशेषार्थ—जब दो अत्यन्त विरुद्ध वस्तुओं के कार्यों का एक साथ मेल होता है तब व्यवहार या उपचार से एक वस्तु का कार्य दूसरी वस्तु के कार्य पर आरोपित कर दिया जाता है। अग्नि और घी सर्वथा दो भिन्न पदार्थ हैं। घी का काम तो शरीर को पुष्ट करना है, जलाना नहीं। जलाना तो अग्नि का काम है। परन्तु अग्नि के संयोग से तपते हुए घी से जब कोई पुरुष जल जाता है तब ऐसा कहा जाता है कि 'घी ने शरीर को जला दिया'। वास्तव में जलाने का कार्य तो अग्नि ने किया है, घी ने नहीं किया, परन्तु इन दोनों का संयोग होने से व्यवहार से लोक में ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व और राग दोनों भिन्न-भिन्न हैं। सम्यक्त्व का कार्य कर्मों से छुड़ाने का है, कर्मों का बंध कराने का नहीं है। राग का कार्य कर्मों का बंध कराने का है। परन्तु इन दोनों के मेल से व्यवहार

रूढ़ि से लोक में यह कहा जाता है कि 'रत्नत्रय से इन्द्रादिक शुभ प्रकृतियों का बंध होता है'। वस्तु स्थिति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि जब एक ही पुरुष में सम्यक्त्व रूप ज्ञानधारा और रागादि रूप अज्ञानधारा दोनों एक ही समय में चलती हैं तो बंध का कारण तो रागादि रूप अज्ञानधारा ही है, सम्यक्त्व रूप ज्ञानधारा कर्मबन्ध का कारण नहीं, उससे तो मोक्ष का ही लाभ होता है। अतः 'सम्यक्त्व से शुभप्रकृतिबन्ध होता है'—यह व्यवहार / उपचार कथन है।

निश्चय और व्यवहार रूप रत्नत्रय मोक्ष में पहुंचाता है—

सम्यक्त्वबोधचरित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥
॥७-२६-२२२॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**एषः**) यह पूर्वकथित (**मुख्योपचाररूपः**) निश्चय और व्यवहार रूप (**सम्यक्त्वबोधचरित्रलक्षणः**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण वाला (**मोक्षमार्गः**) मोक्ष का मार्ग (**पुरुषम्**) आत्मा को (**परं पदं**) परमात्मा का पद (**प्रापयति**) प्राप्त करवाता है।

अर्थ—इस प्रकार यह पूर्वकथित निश्चय और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण वाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मा पद प्राप्त करवाता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों को एकतारूप मोक्षमार्ग है। वास्तव में मोक्षमार्ग तो एक ही है, परन्तु निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो प्रकार का कहा जाता है। निश्चय रत्नत्रय तो मुख्य है, साध्य है तथा साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है। व्यवहार रत्नत्रय उपचार रूप है, साधन है तथा परम्परा से मोक्ष का साधक है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का

कारण है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रूप रत्नत्रय जीव को मोक्ष में पहुँचाते हैं।

अत्यन्त निर्मल सिद्धपरमेष्ठी मोक्ष में प्रकाशमान होते हैं—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः।।

॥७-२७-२२३॥

अन्वयार्थ—(**नित्यमपि**) हमेशा ही (**निरुपलेपः**) कर्मरूपी रज के लेप से रहित (**स्वरूपसमवस्थितः**) अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वरूप में भले प्रकार स्थित (**निरुपघातः**) घात रहित (**विशदतमः**) अत्यन्त निर्मल (**परमपुरुषः**) परमात्मा—सिद्ध परमेष्ठी (**परमपदे**) सर्वोत्तम मोक्ष पद में (**गगनमिव**) आकाश की भाँति (**स्फुरति**) प्रकाशमान होते हैं।

अर्थ—हमेशा ही कर्मरूपी रज के लेप से रहित अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वरूप में भली प्रकार स्थित, घात रहित अत्यन्त निर्मल परमात्मा—सिद्धपरमेष्ठी सर्वोत्तम मोक्ष पद में आकाश की भाँति प्रकाशमान होते हैं।

विशेषार्थ—शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करके जीव सर्वोत्तम मोक्षपद—सिद्धपरमेष्ठी पद को प्राप्त करता है तथा सदा ही कर्म लेप से रहित लोकाकाश के अन्त में शुद्ध आकाश की तरह प्रकाशमान रहता है। संसारी जीव तो मनुष्य-देवादि चारों गतियों में अपनी आयु प्रमाण थोड़े काल तक रहते हैं, कर्ममल से मलिन हो रहे हैं, पुण्य-पाप रूप से लिप्त हैं और देह सहित होने से दूसरों जीवों का घात करते हैं तथा स्वयं भी घाते जाते हैं। परन्तु सिद्धपरमेष्ठी मोक्ष-पद में अनन्त काल तक विराजमान रहते हैं, कर्ममल से रहित होने से निर्मल हैं, शुद्ध आकाश के समान निर्लेप हैं और देहरहित होने से न तो किसी का घात करते हैं तथा न ही किसी के द्वारा घाते जाते

हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् अखण्ड, अविनाशी, निर्मल निजस्वरूप में लीन सदा ही मोक्ष में विराजमान रहते हैं। भव्य जीवों को उन सिद्धों की आराधना करके मोक्षपद को पाना चाहिए।

परमात्मा का **स्वरूप**—

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥
॥ ७-२२-२२४ ॥

अन्वयार्थ -(**कृतकृत्यः**) कृतकृत्य (**सकलविषयविषयात्मा**) समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं अर्थात् सर्व पदार्थों को जानने वाले (**परमानन्दनिमग्नः**) परमानन्द---ज्ञानानन्द में पूर्ण मग्न (**ज्ञानमयः**) ज्ञानमय ज्योति स्वरूप (**परमात्मा**) मुक्तात्मा—सिद्धपरमेष्ठी (**परमपदे**) सर्वोच्च मोक्षपद में (**सदैव**) सदा ही (**नन्दति**) आनन्द रूप से विराजमान हैं।

अर्थ—कृतकृत्य, समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं अर्थात् सर्वपदार्थों को जानने वाले, परमानन्द—ज्ञानानन्द में पूर्ण मग्न, ज्ञान ज्योति स्वरूप मुक्तात्मा— सिद्धपरमेष्ठी सर्वोच्च मोक्षपद में सदा ही आनन्द रूप से विराजमान हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक में सिद्धपरमेष्ठी/परमात्मा का स्वरूप दर्शाया गया है। परमात्मा ने पुरुषार्थ की सिद्धि कर ली है अर्थात् अविनाशी मोक्षपद को पा लिया है, उन्हें अब कोई कार्य करना शेष नहीं इसलिये 'कृतकृत्य' हैं। केवलज्ञानमय सिद्धपरमेष्ठी तीन लोक के समस्त पदार्थों को अपने ज्ञान में विषय करते हैं अथवा समस्त पदार्थों से विरक्त होकर निजशुद्धात्म स्वरूप में लीन रहते हैं तथा समस्त विषय विकार से रहित, परमानन्द में निमग्न सर्वोच्च मोक्षपद में सदा ही विराजमान रहते हैं।

जैन नय-विवक्षा—

> एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
> अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥
>
> ॥७-२९-२२५॥

अन्वयार्थ—(**मन्थाननेत्रम्**) दही की मथानी की रस्सी को खींचने वाली (**गोपी इव**) ग्वालिन की तरह जो (**वस्तुतत्त्वम्**) वस्तु के स्वरूप को (**एकेन अन्तेन**) एक अन्त से—रस्सी के सिरे से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से (**आकर्षन्ती**) आकर्षण करती है—खींचती है और फिर (**इतरेण**) दूसरे अन्त—रस्सी के सिरे से अर्थात् पर्यायार्थिकनय से (**श्लथयन्ती**) शिथिल—ढीला करती है, वह (**जैनी नीतिः**) जिनेन्द्र भगवान् की नीति—नय-विवक्षा (**जयति**) जयवन्त है।

अर्थ—दही की मथानी की रस्सी को खींचने वाली ग्वालिन की तरह जो वस्तु के स्वरूप को एक अन्त से—रस्सी के सिरे से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से आकर्षण करती है—खींचती है और फिर दूसरे अन्त से—रस्सी के सिरे से अर्थात् पर्यायार्थिकनय से शिथिल—ढीला करती है, वह जिनेन्द्र भगवान् की नीति—नय-विवक्षा जयवन्त है।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान् की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तमयी है। स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के अनेक धर्मों का कथन होता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दोनों नयों से वस्तु के यथार्थस्वरूप की सिद्धि होती है। द्रव्यार्थिकनय द्रव्य का अर्थात् सामान्य का ग्रहण करता है, पर्यायार्थिकनय विशेष अर्थात् एक समय में एक पर्याय का या गुण का ग्रहण करता है। दोनों नय एक-दूसरे के पूरक तथा सापेक्ष हैं। विवक्षा के समय गौण और मुख्य रहते हैं, एक दूसरे का निषेध नहीं करते। इसी तथ्य को आचार्यश्री ने बहुत ही सुन्दर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है—जैसे कोई ग्वालिन दही में से मक्खन निकालने रूप कार्य की सिद्धि के लिए दही को बिलोती है। बिलोते समय वह

एक हाथ की रस्मी को ढीला करती है तथा दूसरे हाथ से रस्सी को खींचती है, पुनः दूसरे हाथ की रस्सी को ढीला करके पहले हाथ की रस्सी को खींचती है। ऐसा करते हुये वह किसी भी हाथ की रस्सी को सर्वथा नहीं छोड़ती। इसी प्रकार जब द्रव्यार्थिकनय से किसी वस्तु का ग्रहण किया जाता है तो उसको मुख्य रखकर पर्यायार्थिकनय को गौण अथवा उदासीन रखा जाता है तथा जिस समय पर्यायार्थिक नय से वस्तु का ग्रहण करते हैं तो उसको मुख्य रखकर द्रव्यार्थिकनय को गौण अथवा उदासीन रखा जाता है। दोनों नयों में से किसी को भी छोड़ा नहीं जाता अथवा एक नय दूसरे नय का निषेध नहीं करता। दोनों नयों द्वारा ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सिद्धि होती है। जैसे जीव द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य है। यही नय-विवक्षा है, इसी के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सिद्धि होती है। एकांतनय मिथ्या है, इससे वस्तु के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती। आचार्यश्री नय-विवक्षा के जयवन्त होने की मंगल कामना करते हैं।

ग्रन्थकर्ता आचार्यश्री अपनी लघुता बताते हैं—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥
॥ ७-३०-२२६ ॥

अन्वयार्थ (**चित्रैः**) नाना प्रकार के (**वर्णैः**) अक्षरों से (**तु**) तो (**पदानि**) पद (**कृतानि**) रचे गये हैं (**पदैः**) पदों से (**वाक्यानि**) वाक्य (**कृतानि**) बनाये गए हैं और (**पुनः**) फिर (**वाक्यैः**) उन वाक्यों से (**इदं**) यह (**पवित्रं**) पवित्र—पूज्य (**शास्त्रं**) शास्त्र (**कृतं**) बनाया गया है (**अस्माभिः**) हमारे द्वारा (**न**) नहीं।

अर्थ—नाना प्रकार के अक्षरों से तो पद रच गये हैं, पदों से वाक्य

बनाये गये हैं और फिर उन वाक्यों से यह पवित्र—पूज्य शास्त्र बनाया गया है, हमारे द्वारा नहीं।

विशेषार्थ—इस ग्रन्थ के रचयिता महान आचार्यश्री अमृतचन्द्र अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'मैंने इस ग्रन्थ की रचना नहीं की है। बावन अक्षर अनादि निधन हैं, इन्हीं के जोड़ से पद बने तथा पदों से वाक्य बने और वाक्यों से यह पवित्र—पूज्य ग्रन्थ बना है। यह स्वाभाविक रचना है, इसमें हमारी कृति कुछ भी नहीं है।'

॥ अन्तिम सातवां सकल चारित्र अधिकार समाप्त हुआ ॥